भारत में मूर्ति·पूजा



शुक्ल

राजेन्द्र

भारत में मूर्तिपूजा

★

—राजेन्द्र

भारत में मूर्तिपूजा

★

लेखक

राजेन्द्र

★

प्रकाशक

सौरभ प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।

प्रकाशक :
सौरभ प्रकाशन,
नई सड़क, दिल्ली।

प्रथमवार १०००
मूल्य दो रुपये

मुद्रक :
इनसाइट प्रेस,
नई सड़क, दिल्ली।

भूमिका

हिन्दुओं के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में मूर्तिपूजा का एक विशेष स्थान है। मूर्तिपूजा के कारण इस देश में अनेक ऐतिहासिक परिवर्तन हुए हैं। मूर्तिपूजक होने के फलस्वरूप हिन्दूजाति को शताब्दियों तक अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ीं। मुस्लिम-काल का समस्त इतिहास मूर्तिपूजा के ही परिणाम-स्वरूप रक्त से रंगा हुआ है।

मूर्तिपूजा इस देश में कब से प्रचलित है? उसका हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है? क्या उसका हमारे धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्थान-पतन से कोई सम्बन्ध है? इत्यादि अनेक ऐसे ही विषयों पर ऐतिहासिक विवेचन की आज स्वतंत्र भारत के लिए आवश्यकता है।

इस दृष्टिकोण से अभी इस विषय पर कदाचित् ही कोई पुस्तक लिखी गई हो। आज से लगभग दश वर्ष पूर्व मैंनेइस पर कुछ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। दो वर्ष से यह पुस्तक लिखी हुई पड़ी थी, किन्तु अस्वस्थ रहने के कारण मैं स्वयं इसकी शुद्ध प्रतिलिपि न कर सका। गतवर्ष इसकी प्रतिलिपि किसी न किसी प्रकार कराई जा सकी और अब यह पुस्तक रूप में प्रकाशक के सौहार्दपूर्ण सहयोग से पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत है। पुस्तक कैसी है? यह तो निर्णय पाठक ही करेंगे। किन्तु इस विषय पर यह मेरा प्रथम प्रयास होने के कारण यदि इसमें कुछ त्रुटियां भी हों तो उनके लिए मुझे क्षमा किया जायगा, ऐसी मुझे आशा है।

इस सम्बन्ध में यदि कोई नवीन विचार विज्ञ पाठक मुझे भेजेंगे तो मैं उनका आभारी होऊँगा और दूसरे संस्करण में उन्हें यथास्थान प्रकाशित करने का प्रयत्न करूँगा। इस विषय पर अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है; प्रस्तुत पुस्तक तो केवल प्रारम्भ मात्र है।

पुस्तक के कुछ अन्तिम अध्याय धार्मिक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली अनेकानेक शंकाओं के समाधानार्थ सम्मिलित कर दिये गये हैं, जिससे पाठक किसी उचित निर्णय पर पहुँचने में भूल न करें।

पुस्तक के लिखने में अनेक प्राचीन एवं नवीन रचनाओं की सहायता ली गई है और उनके अनेक उद्धरणों का इसमें सङ्कलन है। मैं ऐसी समस्त रचनाओं के यशस्वी लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरी इच्छा थी कि पुस्तक अत्यन्त शुद्ध रूप में प्रकाशित हो, किन्तु ऐसा न हो सका। पुस्तक के प्रूफ़ मैं स्वयं न देख सका और छपने में अनेक अशुद्धियाँ रह गईं। इसका मुझे हार्दिक खेद है। इसके लिए मैं पाठकों से क्षमा चाहूँगा और निवेदन करूँगा कि पुस्तक पढ़ने से पूर्व शुद्धि-पत्र की सहायता से समस्त अशुद्धियों को ठीक करलें। प्रेस की साधारण अशुद्धियां जिनके कारण पढ़ने में कोई विशेष भ्रम अथवा बाधा उत्पन्न नहीं होती, छोड़ दी गई हैं। इन अशुद्धियों को आगामी संस्करण में ही दूर किया जा सकेगा, इसके अतिरिक्त अब कोई अन्य उपाय नहीं है।

आशा है सहृदय पाठक पुस्तक का उसी शुद्धभाव से, जिससे कि वह लिखी गई है, अध्ययन एवं अनुशीलन करेंगे और पुस्तक को अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचाकर उसकी उपयोगिता बढ़ाएंगे।

'आर्य निवास'
अतरौली (अलीगढ़)
पौष पूर्णिमा, सं० २००७ वि०

—राजेन्द्र

'प्राक्कथन'

आध्यात्मिक तथा सामाजिक रोगों में सब से भयानक तथा सब से अधिक कष्ट-साध्य मूर्तिपूजा की कुप्रथा है। भयानक इसलिये कि स्वयं तो मूर्तिपूजा मनुष्य को ईश्वर-विमुख करती ही है; यह अनेकों आडम्बरों, विडम्बनाओं, भ्रमों तथा पाखण्डों की भी जन्मदात्री है। इसकी कष्ट-साध्यता का मुख्य कारण यह है कि रोगी अपने को रोगी होते हुए भी रोगी नहीं समझता। जिस प्रकार मृग-तृष्णिका के जल की तलाश में ...

प्राक्कथन में पृष्ठ ४ की पाठ्य सामिग्री ५ पर और ५ की ४ पर भूल से छप गई है। कृपया सुधार कर पढ़ें।

... और उच्च स्वर से उससे बचने की चेतावनी देते रहे परन्तु मूर्तिपूजा किसी न किसी रूप में उनको अपने जाल में फंसाती ही रही। कभी-कभी तो चिकित्सक स्वयं रोगग्रस्त होने से नहीं बच सका।

मूर्तिपूजा एक आध्यात्मिक महारोग है। यह बात सब पर विदित नहीं है। यदि हमको इतनी ही अनुभूति होजाय तो कुछ तो बचाव अवश्य हो सके। परन्तु जो रोगी रोग को स्वास्थ्य समझता रहे उसको कौन बचा सकता है!

मूर्तिपूजा पूजा नहीं, अपितु पूजा का निषेध है। या पूजा शब्द का दुरुपयोग है। यदि पूजा का अर्थ सत्कार है और सत्-कार का अर्थ है सत्+कृ अर्थात् सचाई के साथ व्यवहार करना तो कोई मूर्तिपूजक

पुस्तक के कुछ अन्तिम अध्याय धार्मिक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली अनेकानेक शंकाओं के समाधानार्थ सम्मिलित कर दिये गये हैं, जिससे पाठक किसी उचित निर्णय पर पहुँचने में भूल न करें।

पुस्तक के लिखने में अनेक प्राचीन एवं नवीन रचनाओं की सहायता ली गई है और उनके अनेक उद्धरणों का इसमें सङ्कलन है। मैं ऐसी समस्त रचनाओं के यशस्वी लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरी इच्छा थी कि पुस्तक अत्यन्त शुद्ध रूप में प्रकाशित हो, किन्तु ऐसा न हो सका। पुस्तक के प्रूफ़ मैं स्वयं न देख सका और छपने में अ
मैं

नहीं है।

आशा है सहृदय पाठक पुस्तक का उसी शुद्धभाव से, जिससे कि वह लिखी गई है, अध्ययन एवं अनुशीलन करेंगे और पुस्तक को अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचाकर उसकी उपयोगिता बढ़ाएंगे।

'आर्य निवास'
अतरौली (अलीगढ़)
पौष पूर्णिमा, सं० २००७ वि०

—राजेन्द्र

'प्राक्कथन'

आध्यात्मिक तथा सामाजिक रोगों में सब से भयानक तथा सब से अधिक कष्ट-साध्य मूर्तिपूजा की कुप्रथा है। भयानक इसलिये कि स्वयं तो मूर्तिपूजा मनुष्य को ईश्वर-विमुख करती ही है; यह अनेकों आडम्बरों, विडम्बनाओं, भ्रमों तथा पाखण्डों की भी जन्मदात्री है। इसकी कष्ट-साध्यता का मुख्य कारण यह है कि रोगी अपने को रोगी होते हुए भी रोगी नहीं समझता। जिस प्रकार मृग-तृष्णिका के जल की तलाश में प्राणी प्यासा दौड़ता रहता है और कभी अपनी आशा को पूरा नहीं कर सकता इसी प्रकार मूर्तिपूजा उपासक के समक्ष नित्य नये-नये रूप में आध्यात्मिक मृगतृष्णिका का मायाजाल दिखाया करती है और मरण-पर्य्यन्त उसको सचाई के दर्शन नहीं हो सकते।

प्रायः सभी युगों और सभी देशों के उत्कृष्ट विचारक लोगों को मूर्तिपूजा के दलदल से बचाने का प्रयास करते रहे और उच्च स्वर से उससे बचने की चेतावनी देते रहे परन्तु मूर्तिपूजा किसी न किसी रूप में उनको अपने जाल में फंसाती ही रही। कभी-कभी तो चिकित्सक स्वयं रोगग्रस्त होने से नहीं बच सका।

मूर्तिपूजा एक आध्यात्मिक महारोग है। यह बात सब पर विदित नहीं है। यदि हमको इतनी ही अनुभूति होजाय तो कुछ तो बचाव अवश्य हो सके। परन्तु जो रोगी रोग को स्वास्थ्य समझता रहे उसको कौन बचा सकता है!

मूर्तिपूजा पूजा नहीं, अपितु पूजा का निषेध है। या पूजा शब्द का दुरुपयोग है। यदि पूजा का अर्थ सत्कार है और सत्-कार का अर्थ है सत्+कृ अर्थात् सचाई के साथ व्यवहार करना तो कोई मूर्तिपूजक

असत्य-दर्शन और असत्य-भाषण से कभी कोई जाति सामाजिक-सुधार में सफल नहीं हो सकती। पुजारी अपने को ईश्वर का दूत या एजेण्ट समझता है। उसी के द्वारा पूजक और पूज्य में सम्बन्ध स्थापित होता है। वह बिचौलिया है। अतः वह अनेक प्रकार की धोखादिही में भाग लेता है। दुनियाँ भर के सब प्रसिद्ध देवालयों में यात्रियों की आँखों में धूल डाल कर रुपया बटोरा जाता है। कहीं कहा जाता है कि देवी रंग बदलती है, कहीं कहा जाता है कि श्रीकृष्ण जी ने दातोन की, कहीं कहा जाता है कि देवी भविष्यवाणी बोलती है। इस प्रकार मिथ्या विचारना, मिथ्या बोलना और मिथ्या का प्रचार करना यह मूर्तिपूजा का प्रतिफल है। मूर्तिपूजा की प्रशंसा में सैकड़ों मिथ्या ग्रन्थ रच दिये गये और उन्होंने लोगों को अपने जाल में फँसाया। धन का लोभ मूर्तिपूजा की बुनियाद है। इसी लोभ के कारण मूर्तिपूजा-गृह बनते हैं और इसी लोभ से प्रेरित होकर बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे जाते हैं।

दो भ्रम हैं जिनके कारण बुद्धिमान् लोग भी मूर्तिपूजा के पक्षपाती हो जाते हैं। प्रथम तो यह कि मूर्तिपूजा से कला बढ़ती है। कलाकारों ने मूर्तिपूजा के कारण ही अपनी कलाओं का प्रदर्शन किया। परन्तु यह लोग भूल जाते हैं कि कलाकारों की विद्या का यह दुरुपयोग था। इसका सदुपयोग किया जा सकता था। परन्तु जब कला के पक्षपातियों पर मूर्तिपूजा का प्रभाव होगया तो कला का सदुपयोग भी जाता रहा। कलाकारों ने मूर्तियों पर जो कला-विज्ञान व्यय किया वह धोखेबाज़ी फैलाने का साधन बन गया। उसने असली कला बढ़ाई नहीं अपितु घटा दी। जिस कला से मानव जाति का सदाचार गिरता हो वह कभी कला नहीं कहलाई जा सकती।

दूसरा भ्रम यह है कि अज्ञानी लोग मूर्ति को देख कर कुछ तो कर लेते हैं। यदि मन्दिर या मूर्ति न हो तो कोई ईश्वर का नाम भी

अपने को पूजक नहीं कह सकता। क्योंकि जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा मानना ही मूर्तिपूजा का ध्येय है और यही उसका असली रूप है। मूर्ति बनाना, मूर्ति को स्थापित करना और मूर्ति-पूजना तीनों व्यापारों में कल्पना का सब से अधिक भाग है और ऐसी कल्पना का जो सचाई से कोसों दूर है। और दुर्भाग्य यह है कि मूर्ति-पूजक की तो कल्पना-शक्ति भी अविकसित ही रह जाती है, जो कुछ कल्पना का लाभ है वह मूर्ति-निर्माता के ही हिस्से में आता है। और निर्माता को भी अपनी कल्पना-शक्ति का विकास करने के साथ ही वंचना से भी काम लेना पड़ता है। इसलिये मूर्तियों के निर्माता और पुजारियों का चरित्र पूजकों की अपेक्षा कहीं अधिक गिरा हुआ होता है। पुजारी धोखा देता है पूजक धोखे में फंस जाता है। पूजक चढ़ावा चढ़ाता है और पुजारी उसको ग्रहण करता है। पुजारी मूर्ति के विषय में धोखेबाज़ी की कहानियाँ गढ़ता है और भोला पूजक उस पर विश्वास कर लेता है। इस प्रकार आध्यात्मिक चोरबाज़ारी सदैव जारी रहती है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं, मूर्ति का पुजारी इससे सर्वथा उलटा उपदेश देता है। वह निरन्तर यही कहता है कि वेद पढ़ते ब्रह्मा मर गये कोई ज्ञान की वृद्धि करके भी तरा है! तरता वही है जो विना विचारे देवता का सहारा लेता है। इसलिये मूर्ति के दर्शन करते समय भूल जाओ कि यह मूर्ति है। इसको साक्षात् ईश्वर समझो तभी कल्याण होगा। आत्मा का मुख्य गुण है चेतनता अथवा ज्ञान। जिस मूर्तिपूजा से नित्य हमारे ज्ञान के साधनों में बाधा पड़े और अन्ध-विश्वास बढ़े उससे अध्यात्म-लाभ कैसे होगा?

इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजा एक सामाजिक रोग भी है। मूर्तिपूजक व्यक्ति और मूर्तिपूजक जातियाँ सदैव सामाजिक-सुधार के शत्रु रहे हैं।

न ले। परन्तु यह एक भ्रमोत्पादक हेत्वाभास है। यदि मूर्तिपूजा न होती तो लोग वास्तविक ईश्वर के विषय में कभी तो कुछ सोचते! मूर्तिपूजा में फँसे रहने के कारण कोई सोचता तक भी नहीं कि ईश्वर क्या है, उसके गुण, कर्म और स्वभाव क्या हैं और हम उसकी उपासना कैसे कर सकते हैं।

ऋषि दयानन्द ने आदिकाल से ही मूर्तिपूजा के गढ़े से संसार को बचाने का प्रयास किया और जो प्रबल युक्तियाँ मूर्तिपूजा के विरोध में सत्यार्थप्रकाश में दी गई हैं वे अवश्य ही लोगों को असत्य से छुड़ाने वाली हैं। परन्तु कुछ दिनों से आर्य-समाज कुछ ऐसे झमेलों में फँस गया है कि उसे वास्तविक सिद्धान्तों के प्रचार का समय नहीं मिलता। मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ कि श्री राजेन्द्र जी ने 'भारत में मूर्तिपूजा' नामक पुस्तक लिखी है। आजकल भारतवर्ष में मूर्तिपूजा का संक्रामक रोग बढ़ रहा है और जिन पुराने या नये आचार्यों ने मूर्तिपूजा का ज़ोरदार खण्डन किया उनके अनुयायी भी अपने इस कर्तव्य से विमुख होकर शनैः-शनैः मूर्तिपूजा के विष को पान करते जा रहे हैं। मैंने पुस्तक को पढ़ा और युक्तियुक्त तथा लाभप्रद पाया।

अन्ध-विश्वास पर मुलम्मा करना संसार की अविद्या को बढ़ाता और दुःख का कारण होता है। यह पुस्तक अवश्य ही अन्ध-विश्वास को कम करने में सहायक होगी।

दया निवास (कला प्रेस)
प्रयाग
२०-२-५१

— गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

मूर्तिपूजा का आदि काल
तथा
आदि कारण

मूर्तिपूजा का आदिकाल

संसार के विभिन्न भागों में मूर्ति पूजा का सूत्रपात कब और कहाँ हुआ यह तो कहना कठिन है, किन्तु जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बंध है, पूर्वी एंव पश्चिमी सभी इतिहासिज्ञ तथा दार्शनिकों का मत है कि उसका जन्मकाल जैन-बौद्ध काल है। हिन्दू सम्प्रदायवादी चाहे इस विचार से सहमत न हों किन्तु निष्पक्ष स्वतंत्र विचारक इस विषय में एक मत हैं। अतः जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का सम्बंध है, इसका समय जैन-बौद्ध-काल से पहिले नहीं जाता।

बुद्ध का जन्मकाल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्तमान जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है। उन्होंने ८० वर्ष की आयु में निर्वाण पद प्राप्त किया। उनकी मृत्यु के पश्चात, स्मार्क रूप में, उनके शिष्यों ने उनके केश, दाँत और अस्थियों को लेकर उन पर समाधियाँ निर्माण करदीं। सम्भवतः कुछ काल व्यतीत होने पर अज्ञान और मोह वश, इन स्मार्क चिन्हों की पूजा प्रारम्भ हो गई। धीरे धीरे इन ही समाधियों पर बुद्ध की

मूर्तियां स्थापित करदी गईं और उनकी सर्वत्र पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म की मूर्ति पूजा के इस विकास के लिये कुछ शताब्दियों का व्यतीत हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भव है, प्रारम्भ में जैन धर्म में भी मूर्ति पूजा का कोई स्थान न हो और बौद्ध धर्म की भांति इसमें भी उसका शनैः शनैः विकास हुआ हो। अतएव मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक काल महात्मा बुद्ध के जन्म के पश्चात् कुछ शताब्दि व्यतीत होने पर ही निश्चय होता है।

मूर्तिपूजा हमारे देश में बौद्ध काल से पूर्व किसी भी रूप में प्रचलित न थी, इसका सबसे प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण चीन के दो प्रसिद्ध यात्री फ़ाहियान तथा हेनसांग का यात्रा विवरण है। फ़ाहियान ने इस देश की सन् ४०० ई० में यात्रा की। उसका कहना है कि उस समय काबुल में बौद्ध धर्म का पूर्ण विस्तार था और वहाँ ५०० बौद्ध विहार थे। मथुरा में उसने तीन हजार बौद्ध भिक्षुओं को देखा था और उस समय वहाँ बौद्ध धर्म का पूरा प्रचार था। राजपूताने के समस्त राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उसने सर्वत्र ऐसे विहार देखे जिन पर लाखों रुपये व्यय किये गये थे। वह सब स्थानों में घूमता हुआ पटना पहुँचा जहाँ बौद्धों के संघों में प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति को देखा। वह लिखता है:—

'प्रति वर्ष दूसरे मास के आठवें दिन मूर्तियों की एक सवारी निकाली जाती है। इस अवसर पर लोग चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बांसों का ठाठ बांध कर पाँच खंड का बनाते हैं। उसके बीच एक खम्भा रखते हैं जो तीन फल वाले भाले की भांति होता है और ऊँचाई में २२ फीट या इससे अधिक होता है, और एक मंदिर की भांति दीख

पड़ता है। तब वे सफेद मलमल से उसे ढकते हैं और चटकीले रङ्गों से उसे रंगते हैं। फिर देवों की चाँदी सोने की मूर्तियां बनाकर चाँदी सोने और काँच से आभूषित करके कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे बैठाते हैं। रथ के चारों कोनों पर वे ताख बनाते हैं और उनमें बुद्ध की बैठी मूर्तियाँ जिनकी सेवा में एक बोधिसत्व खड़ा रहता है, बनाते हैं। ऐसे ऐसे बीस रथ बनाये जाते हैं। इस यात्रा के दिन बहुत से गृहस्थ और सन्यासी एकत्रित होते हैं। जब वह फूल और धूप चढ़ाते हैं तो बाजा बजता है और खेल होता है। श्रमण लोग पूजा को आते हैं। तब बौद्ध एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। और वहाँ वे ठहरते हैं। तब रात भर रोशनी करते हैं। गाना और खेल होता है। पूजा होती है इत्यादि इत्यादि।"

यहाँ से इसने राजगृही, गया, काशी, कौशाम्बी और चम्पा जो पूर्वी बिहार की राजधानी थी, की यात्रा की। परन्तु उसने इन तीर्थों में एक भी हिन्दुओं का मन्दिर नहीं देखा। सब जगह बौद्धों के संघाराम ही देखे। ताम्रपल्ली में भी उसने २४ सन्घाराम देखे। अंत में वह जहाज़ द्वारा सिंहल को चला गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फाहियान की यात्रा के समय बौद्धों में भी सर्वत्र मूर्ति पूजा का प्रचार नहीं हुआ था। हिन्दुओं के अनेकानेक वर्तमान देवी देवताओं की मूर्तियों और उनके मंदिरों की तो अभी सृष्टि भी नहीं हुई थी। इस प्रकार फाहियान का यात्रा काल निर्विवाद रूप से मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है।

फाहियान के लगभग दोसौ वर्ष के पश्चात् हेनसांग एक दूसरा चीनी यात्री भारतवर्ष में आया। वह फरगन, समरकंद,

बुख़ारा और बलख़ होता हुआ, इस देश में आया। यह यात्री सन् ६४० ई० में भारतवर्ष में था।

उसने जलालाबाद को बौद्धों से परिपूर्ण समृद्धशाली नगर पाया। उसने यहाँ पांच शिवालय हिन्दुओं के देखे जिनके १०० पुजारी थे। कंधार और पेशावर में उसने एक हज़ार बौद्ध संघारामों को उजड़ा हुआ खंडरावस्था में पाया और हिन्दुओं के १०० मंदिर देखे।

उसने मालवा के राजा शिलादित्य का वर्णन किया है, जो विक्रमादित्य का पुत्र था। विक्रम ने मनोत्हृत नाम के बौद्ध भिक्षु को हिन्दुओं का पक्षपाती होने के कारण अपमानित किया था, किन्तु शिलादित्य ने उसे बुलाकर प्रतिष्ठा की थी। इस यात्री ने पौलुश नगर के निकट एक ऊँचे पर्वत पर नीले पत्थर से काट कर बनाई हुई एक दुर्गादेवी की मूर्ति देखी। जहाँ उसने धनी, दरिद्र सब ही को एकत्रित इस मूर्ति की पूजा करते देखा। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मंदिर था जहाँ भस्म लगाये अनेक साधु रहते थे।

काबुल और चमन में जहाँ दोसौ वर्ष पूर्व फाहियान ने बौद्ध धर्म का पूर्ण उत्कर्ष देखा था, वहाँ हेनसांग ने संघारामों को उजाड़ पाया और दस हिन्दू मन्दिरों को देखा। उसने तक्षशिला और काश्मीर में जैनियों को महावीर की मूर्ति पूजते देखा। काश्मीर में अब भी बौद्धों का प्राबल्य था और वहां उस समय कनिष्क राज्य करता था जो बौद्ध था। जिसने बौद्धों की दशा उन्नत करने के अभिप्राय से एक सभा बुला कर महायान सम्प्रदाय को जन्म दिया था। उसने अपने यात्रा विवरण में पंजाब

के राजा मिहिरकुल का भी उल्लेख किया है। जिसने पांचों खंडों के बौद्ध भिक्षुओं को मार डालने की आज्ञा दी थी और कंधार को विजय कर वहाँ के राजवंश को नष्ट कर डाला था। इसने बौद्ध संघारामों, स्तूपों और भिक्षुओं को नष्ट भ्रष्ट कर दिया और सिंध के तट पर तीन लाख बौद्धों का वध कराया था।

मथुरा में इस समय भी बौद्ध धर्म का प्रचार था। वहां उसने २० संघाराम और दो हजार भिक्षुओं को उनमें पूजा उत्सव आदि करते देखा।

उसने गंगा की प्रशंसा सुनी जो पापों का नाश करने वाली प्रसिद्ध थी। हरिद्वार में उसने एक देव मंदिर भी देखा जिसमें बड़े चमत्कार किये जाते थे। हरि की पौड़ी उस समय पत्थर की निर्माण हो चुकी थी और उसमें स्नान करने का म हात्म्य प्रसिद्ध हो चुका था।

कन्नौज उस समय गुप्त राजाओं की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। यहाँ उसने बौद्ध और हिन्दुओं को समानावस्था में पाया। यहाँ पर १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु तथा २०० देव मन्दिर और हजारों पुजारी उसने देखे। यहाँ के बौद्ध राजा शिलादित्य द्वितीय से भी उसकी भेंट हुई, जिसने गंगा के पूर्वीय तट पर १०० फीट ऊँचे स्तम्भ पर बुद्ध की मनुष्याकार सोने की मूर्ति स्थापित की थी।

वहाँ का वर्णन करते हुए वह लिखता है—"वसन्त ऋतु के तीन मास तक वह (शिलादित्य) भिक्षुओं और ब्राह्मणों को भोजन देता था। संघाराम से महल तक सब स्थान तम्बुओं

और गवैयों की छोलदारियों से भर जाता था। बुद्ध की एक छोटी सी मूर्ति एक अत्यन्त सजे हुए हाथी पर रक्खी जाती थी और शिलादित्य इन्द्र की भांति सजा हुआ उस मूर्ति की बाईं ओर, और कामरूप का राजा दाहिनी ओर पाँच पाँच सौ युद्ध के हाथियों की रक्षा में चलता था। राजा चारों ओर मोती, सोने चांदी के फूल एवं अनेक बहुमूल्य चीजें फैंकता जाता था। मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शिलादित्य उसे स्वयं कंधे पर रखकर पश्चिमी बुर्ज पर ले जाता था और उसे रेशमी वस्त्र और रत्न जटित भूषण पहनाता था। फिर भोजन और शास्त्र चर्चा होती थी।

हेनसांग ने अयोध्या में भी बौद्धों के १० संघाराम और ३००० भिक्षु और बहुत से हिन्दुओं को देखा। प्रयाग में उसने हिन्दुओं का प्रावल्य देखा और गंगा यमुना के संगम पर सैंकड़ों मनुष्यों को स्वर्गलाभ की लालसा में मरते देखा। उसका कहना है कि नदी के बीच में एक ऊँचा स्तम्भ था जिस पर चढ़कर लोग अस्त होते हुए सूर्य का दर्शन करते थे। श्रीवस्ती, कौशाम्बी और काशी में भी उसने हिन्दुओं का प्रभुत्व पाया। काशी में उसने ३० संघाराम और ३००० भिक्षुओं और १०० देव मन्दिर तथा १० हजार पुजारी देखे थे। यहां पर केवल महेश्वर की पूजा प्रचलित थी। महेश्वर की एक तांबे की १०० फीट ऊँची मूर्ति थी और इतनी गम्भीर और तेजपूर्ण थी कि जीवित सी जान पड़ती थी। वहाँ उसने एक मनुष्याकार बुद्ध मूर्ति भी देखी थी।

वैशाली में उसने बौद्ध संघारामों को खंडहरावस्था में पाया। वहां बहुत से देवमन्दिर बन चुके थे। मगध में ५० संघाराम

और दस हजार भिक्षुओं को देखा था। यहाँ हिन्दुओं के भी दस मन्दिर थे। पाटलीपुत्र इस समय उजाड़ हो चुका था। गया में उसने ब्राह्मणों के हजार घर देखे। गया के बोधिवृक्ष और विहार की अपूर्व शोभा इस यात्री ने देखी थी। वह लिखता है:—

यह १६० या १७० फीट ऊँचा है और बहुत सुन्दर बेल बूटों का काम इस पर हुआ है। कहीं तो मोतियों से गुथी हुई मूर्तियां बनी हैं—कहीं ऋषियों या देवताओं की मूर्तियां हैं। इन सबके चारों ओर तांबे का सुनहला आमलक फल है। इसके निकट ही महाबोधि संघाराम का विशाल भवन है। जिसे लंका के राजा ने बनवाया है। उसकी ६ दीवारें तथा तीन खंड ऊँचे बुर्ज हैं। इसके चारों ओर ३०-४० फीट ऊँची सफील हैं। इसमें शिल्प की बहुत भारी कला खर्च की गई है। बुद्ध की सोने चांदी की मूर्तियां हैं और उनमें रत्न जड़े हैं। वर्षा ऋतु में यहाँ बोद्धों का बहुत भारी मेला लगता है, लाखों मनुष्य आते हैं और दिन रात उत्सव मनाते हैं।"

यह नालंद विश्वविद्यालय में कामरूप के राजा के साथ कुछ दिन रहा था। यहाँ इसने बड़े बड़े विद्वानों से बातचीत की थीं। मुंगेर, पूर्वी विहार तथा उत्तरी बंगाल में बौद्धों के संघाराम और हिन्दुओं के देव मन्दिर दोनों ही समान रूप से विद्यमान थे। यहां से चलकर वह आसाम, मनीपुर, सिलहट आदि पहुँचा जहां बहुत से हिन्दू मन्दिर निर्माण हो चुके थे और बौद्धों का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। यहां उसने एक भी संघाराम नही देखा।

वर्तमान मिदनापुर के निकट ताम्रलिप्त राज्य में उसने जहाँ

तहाँ संघाराम देखे। कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद) में उसने बौद्ध और हिन्दू दोनों ही पाये। उड़ीसा में उसने १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु देखे थे। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ का मन्दिर उस समय तक नहीं बना था। परन्तु हिन्दुओं के दस मन्दिर वहाँ बन गये थे। बौद्ध इस स्थान को अपनी रक्षा का एक मात्र स्थान समझते थे। पुरी में आज भी बौद्धों के ढंग पर जगन्नाथ जी की रथयात्रा निकाली जाती है। कलिङ्ग राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था परन्तु बरार में हिन्दू, बौद्ध दोनों ही समान थे। यहीं पर प्रसिद्ध सिद्ध नागार्जुन रहता था। आंध्र प्रदेश में उसने २० संघाराम और ३० देव मन्दिर देखे। द्राविड़ देश में बौद्धों का अब भी बहुत प्रभाव था। यहां १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु थे। मालाबार में बौद्धों और हिन्दुओं की समानता थी। लंका में वह स्वयं नहीं गया किन्तु उसने लिखा है कि वहाँ १०० बौद्ध मठ और २० हजार भिक्षु थे। महाराष्ट्र में उसने अनेक बौद्ध संघाराम और अजंता की प्रसिद्ध गुफाओं को देखा। यहाँ ७० फीट ऊँची बुद्ध की मूर्ति थी। मालवा में उसने १००-१०० संघाराम और हिन्दू मन्दिर देखे। कच्छ, गुजरात और सिंध प्रदेशों में उसने सर्वत्र बौद्धों का पतन और मूर्तिपूजक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष देखा था।

होनसांग का यह यात्रा विवरण मूर्ति पूजा के इतिहास पर फाहियान की भाँति एक दूसरी अत्यन्त प्रमाणिक निष्पक्ष साक्षी है। जहाँ फाहियान का समय बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और मूर्ति पूजा का आदिम युग था, वहाँ होनसांग के यात्रा काल में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था और हिन्दुओं के वर्तमान पौराणिक धर्म की जड़ जम चुकी थी। इस समय को

हम बौद्ध और पौराणिक धर्म के संघर्ष का समय कह सकते हैं। बौद्धों का अनुसरण करते हुए हिन्दुओं में भी मूर्ति पूजा प्रचलित हो चुकी थी और उनके सैकड़ों मन्दिर बन चुके थे।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि सबसे पहिले मूर्ति पूजा जैन धर्म में प्रारम्भ हुई और बौद्धों ने उसे जैनियों से और हिन्दुओं ने जैन एवं बौद्धों से ग्रहण किया। सम्भव है बात ऐसी ही हो। परन्तु हमारा तात्पर्य तो यहाँ केवल इतना ही सिद्ध करना है कि हिन्दू धर्म की वर्तमान मूर्ति पूजा बौद्ध-जैन काल की देन है, और इसका प्राचीन आर्य धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

फारसी भाषा का 'बुत' शब्द जो स्पष्टतया 'बुद्ध' का अपभ्रंश है, यह सिद्ध करता है कि न केवल भारतवर्ष अपितु ईरान आदि देशों में भी सर्व प्रथम जिस मूर्ति की पूजा का प्रचार हुआ अथवा वहाँ के निवासी जिस मूर्ति के सम्पर्क में आये वह मूर्ति 'बुद्ध' की थी। फलतः 'बुत' शब्द ही मूर्ति का पर्यायवाची फारसी भाषा में प्रयुक्त होने लगा। अतः 'बुत' शब्द भी यही सिद्ध करता है कि मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बुद्ध की मूर्ति से हुआ और जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ वहाँ वहाँ मूर्ति पूजा भी प्रचलित होती गई।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' (The Discovery of India) में ठीक हमारे ही उपयुक्त विचारों की सम्पुष्टि की है। वह इस पुस्तक के भारत और यूनान (India and Greece) शीर्षक अध्याय में पृष्ठ १७२ पर लिखते हैं:—

"यह एक मनोरंजक विचार है कि मूर्तिपूजा भारत में यूनान से आई। वैदिक धर्म हर प्रकार क मूर्ति तथा प्रतिमा पूजन का विरोधी था। उस (वैदिक) काल में देव मूर्तियों के किसी प्रकार के मंदिर नहीं थे। कदाचित् पीछे के सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं किन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उसका इस देश में विस्तृत प्रभाव नहीं था। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म उसका घोर विरोधी था और बुद्ध की प्रतिमा तथा मूर्ति-निर्माण के विरूद्ध विशेष आज्ञाएं थी। यूनानी मूर्ति कला का अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश के चारों ओर अधिक प्रभाव था और वह शनः शनैः यहाँ भी प्रविष्ट हो गया। किन्तु इस पर भी प्रारम्भ में बुद्ध की मूर्ति न बनाकर 'अपोलो' (यूनान का एक देवता) जैसी 'बोधिसत्वों' की ही मूर्तियां बनाई गईं—जो बुद्ध के पूर्व अवतार माने जाते थे। पीछे से स्वयं बुद्ध की मूर्तियां निर्माण होने लगीं। हिन्दू धर्म के कुछ सम्प्रदायों ने भी उनका अनुकरण किया, किन्तु वैदिक धर्म निरन्तर इस प्रभाव से मुक्त रहा। फ़ारसी तथा उर्दू भाषा में प्रतिमा अथवा मूर्ति के लिये अब भी 'बुत' शब्द प्रयुक्त होता है, जो बुद्ध का रूपान्तर है।"

"It is an interesting thought that image-worship came to India from Greece. The Vedic religion was opposed to all forms of idol and image-worship. There were not even any temples for the gods. There probably were some traces of image-worship in the older faiths of India, though this was certainly not widely

prevalent. Early Budhism was strongly opposed to it and there was a special prohibition against the making of image and statues of the Budha. But Greek artistic influence in Afghanistan and round about the frontier was strong and gradually it had its way. Even so, no statues of the Budha were made to begin with, but Appollo-like statues of Budhisattavas (supposed to be the previous incarnations of the Buddha) appeared. These were followed by statues and images of the Buddha himself. This encouraged image-worship in some forms of Hinduism, though not in the Vedic religion which continued to be free of it. The word for an image or statue in Persian and in Hindustani still is *But* (like put) derived from Buddha."

मूर्ति पूजा का आदि कारण:—

मूर्ति पूजा-प्रसार के, कालांतर में चाहे अनेक कारण बन गये हों, परन्तु मूल रूप में उसके आदि-कारण केवल दो ही हैं:—(१) पूर्व महापुरुषों की चिरस्थाई स्मृति रखने की लालसा तथा (२) अदृश्य वस्तु को भी मूर्तिमान देखने की अज्ञ जन समुदाय की उत्कंठा।

महापुरुषों और महात्माओं की मृत्यु के पश्चात् सर्व साधारण में उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव जागृत रखने के लिए, जिससे वे उनके सदुपदेशों एवं आदर्शों को विस्मृत

न करदें, उनके चित्रों अथवा प्रतिमूर्तियों का बुद्धिमान लोगों ने निर्माण किया। किन्तु अज्ञान अथवा स्वार्थवश, कुछ शताब्दि व्यतीत होने पर उनका जीवित पुरुषों की भाँति पूजा सत्कार प्रचलित हो गया और यह समझा जाने लगा कि उनकी पूजा और उपासना मात्र से हमारे कष्ट दूर हो सकते हैं। महापुरुषों की वास्तविक पूजा उनके पग-चिन्हों पर चलना है, इस तत्व को भुला दिया गया। उनकी प्रतिमूर्तियों के संमुख खड़े होकर उनसे सहायता के लिये याचना करना अथवा जीवितों की भाँति उनका स्नान, मार्जन, चंदन-लेपन एवं भोजन, भेंट सत्कारादि निरर्थक परिक्रियाएं केवल मनुष्य समाज के अज्ञान और अंध विश्वास की परिचायक हैं।

जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है, बौद्ध मूर्ति पूजा का सूत्र-पात ठीक इसी प्रकार हुआ है। जैन, बौद्ध दोनों ही अनीश्वर-वादी थे। उनके समक्ष उनके आचार्यों के अतिरिक्त ईश्वर जैसा अन्य आदर्श नहीं था। मानव स्वभाव में ईश्वरोपासना की भावना बीज रूप से निहित है। मनुष्य अल्पज्ञ और अपूर्ण है। वह असफलता और निराशावस्था में, अपने से बलवान शक्ति की सहाय्य एवं समीप्य की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिन सम्प्रदायों अथवा समाजों में ईश्वर-विश्वास का अभाव है, उनमें अपने आचार्यों अथवा नेताओं की मृत्यु के उपरान्त उनकी समाधियों और प्रतिमूर्तियों की पूजा मानव स्वभाव की उसी असहाय अवस्था की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जैन और बौद्धों दोनों ही सम्प्रदायों में कुछ पीढ़ियाँ बीतने पर उनके आचार्यों की मूर्तियों का पूजा-सत्कार इस प्रकार होने लगा, मानों वह अब भी जीवित हैं। बौद्ध काल के अन्त

में हिन्दुओं ने जैन, बौद्धों का अनुकरण किया और अनेक वैदिक देवताओं की कल्पन के साथ २ इन्होंने उनकी मूर्तियां भी निर्माण करली।

अज्ञ समुदाय निगूढ़ दार्शनिक विचारों के समझने की क्षमता नहीं रखता। उसकी प्रवृत्ति प्रायः इन्द्रियगोचर विषयों की ओर ही होती है। वह अदृश्य पदार्थों को भी मूर्तिमान कल्पना करने में ही सन्तुष्ट होता है। निराकार ईश्वर की तीन शक्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तथा मरुत, इन्द्र, वरुण, सरस्वती आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों की मूर्तिमान् कल्पना, इस प्रवृत्ति का ही फल है। रोग और मृत्यु तक की भयानक मूर्तियों की व्युत्पत्ति, मनुष्य की इसी इच्छा का परिणाम हैं। विदेशी मूर्ति पूजा का इतिहास भी ऐसी कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। वहाँ भी प्राकृतिक दैवी दुर्घटनाओं को देख कर उनके अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करली गई।

कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध प्रचारकों ने चीन, यूनान आदि प्रदेशों में अनेक देवी देवताओं की मूर्ति पूजा प्रचलित देखी और वे इस भावना को इस देश में अपने साथ लाये। इसी प्रकार विदेशी लोगों के इस देश पर आक्रमण तथा हूण, किरात, आभीर आदि अनेक विदेशी मूर्ति पूजक जातियों के समिश्रण ने इस देश में न केवल मूर्ति पूजा के विचारों को ही जन्म दिया अपितु उनके अनेक देवी देवताओं की मूर्तियां यहाँ भी पूजी जाने लगीं। चतुरस्वार्थी लोग सदा और सर्वत्र जन साधारण की अज्ञता से लाभ उठाया करते हैं। समय व्यतीत होने पर ऐसे ही लोगों ने मूर्तियों के अनेक चमत्कार दिखा कर उनमें दैवी शक्ति सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार

अनुचित एवं दम्भपूर्ण उपायों द्वारा मूर्ति पूजा को धनोपार्जन का एक साधन बना लिया गया।

चाणक्य ने अपने कौटल्य अर्थ शास्त्र में राजा तक को ऐसे ही उपायों द्वारा राज्य-कर-वृद्धि का अनुचित परामर्श दिया है। चाणक्य को सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मंत्री बताया जाता है और उसका समय भी बौद्ध कालान्तरगत ही है। वह लिखता है:—

(१) पाखण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रिय भोग्यं देवद्रव्यं वा कृत्यकराः प्रेतस्य दग्धहृदयस्य वाहस्ते न्यस्तमित्युपहरेयुः ।।४३।।

(२) देवताध्यक्षो दुर्गराष्ट्र देवतानां यथा स्वमेकस्थं कोशं कुर्यात् ।।४४।। तथैव चापहरेत ।।४५।।

(३) दैवत चैत्यं सिद्धपुण्यस्थानमौपाधिकं वा रात्रावुथाप्य यात्रा समाजाभ्यामाजीवेत् ।।४६।।

(४) चैत्योपवन वृक्षेण वा देवताभिगमनमनर्तिव पुष्पफल युक्तेन ख्यापयेत ।।४७।।

(५) मनुष्यकरं वा वृक्षे रक्षोभयं रूपयित्वा सिद्धव्यञ्जना पौरजनपदानां हिरण्येन प्रति कुर्युः ।।४८।।

(६) सुरङ्गायुक्ते वाकूपे नाममनियत शिरस्कं हिरण्योपहारेण दर्शयेत् नागप्रतिमायामन्तश्छिद्रायाम् ।।४९।।

(७) चैत्यछिद्रे वल्मीकछिद्रे वा सर्प दर्शनमाहारेण प्रतिवन्ध-सज्ञं कृत्वा श्रद्धधानां दर्शयेत् ।।५०।।

(८) अश्रद्धधानानामाचमन प्रोक्षणेषु रसमुपचाय्य देवता-भिशापं ब्रूयात् ।।५१।।

अर्थ—(१) किसी भी पाखण्ड के संघका धन या देवधन जिसे श्रोत्रिय न भोगते हों कृत्यकार (उस्ताद) लोग यह कहकर कोश में पहुँचादेवें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहाँ रखा था जो मर गया अथवा जल गया ॥

(२) देवों के अध्यक्ष की भाँति अपने कोश को बढ़ाए उसी प्रकार अपहरण करे।

(३) रात्रि में उठकर कहीं पर देव मन्दिर या सिद्ध स्थान या कोई अद्भुत घटना खड़ी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे धन कमावें।

(४) यदि चैत्य वा वृक्ष में असमय फूल फल आवें तो देवता का आ जाना प्रसिद्ध करे।

(५) वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा कर, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखला कर सिद्ध का स्वांग बनाये और पुर और देश वासियों के स्वर्ण से उसका प्रतिकार करावे।

(६—७) सोना भेंट चढ़ाने पर सुरङ्ग वाले कुएँ में नाग दिखलावें जिसका सिर बँधा रहे। श्रद्धालुओं को छिद्र युक्त नाग की प्रतिमा में या मन्दिर या वाल्मीकि के छेद में नाग का प्रत्यक्ष दर्शन करावे पहिले नाग को कुछ खिला कर सुस्त बना देवें।

(८) जो अश्रद्धावान हो उनके आचमन और छींटा देने के जल में कुछ मिला देवें जिससे बेहोश होने पर देवता का कोप बतावें।

वर्तमान सुधार काल से पूर्व इस देश में मूर्तियों के ऐसे

चमत्कारों पर जन साधारण का पूरा विश्वास था। लोग मूर्तियों के कोप से भयभीत रहते थे और पण्डे पुजारी उससे पूरा पूरा लाभ उठाते थे। आज भी अशिक्षित जनता में इस प्रकार के मिथ्या विचार समूल नष्ट नहीं हुये।

वैदिक काल और मूर्तिपूजा

अति प्राचीन काल से वेदों को आर्य लोग अपौरुषेय मानते चले आरहे हैं। अन्य सिद्धान्तों में चाहे मतभेद हो किन्तु वेदों के अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान होने में आर्यधर्म के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति यहाँ तक कि पुराण भी जो आर्यधर्म के वर्तमान विकृत रूप का मूल कारण हैं; एक स्वर से इन्हें ईश्वरीय वाणी उद्घोषित करते हैं; और सृष्टि के आदि में मनुष्यों के प्रादुर्भाव के साथ ही चार ऋषियों पर इनका प्रकट होना वर्णन करते हैं।

पाश्चात विद्वान जिनमें बहुतों का विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त पर विश्वास है, तथा उनसे प्रभावित उनके अनुगामी भारतीय पंडित, जो वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते, कम से कम इतना मानने के लिए विवश हैं कि ऋगवेद संसार की प्राचीनतम पुस्तक है।

पीछे वेदों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए उन्हें आधारभूत मानकर ऋषियों ने ब्राह्मण, उपनिषद्, एवं शास्त्रादि अनेक ग्रन्थों की रचना की। अतः हमने इन ग्रन्थों के रचनाकाल को भी जो वास्तव में सृष्टि उत्पत्ति काल से बहुत पीछे का समय है, वैदिक कालान्तर्गत् परिगणन कर लिया है, और रामायण तथा महाभारत काल से पूर्व के समय को वैदिक काल में ही समाविष्ट किया है।

पूर्व के अध्यायों में हमने मूर्तिपूजा की आधुनिकता पर कुछ प्रकाश डाला है। किन्तु मूर्तिपूजक हिन्दू सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा को वेदशास्त्रानुकूल प्रतिपादन करने का समय समय पर प्रयत्न करते रहते हैं। अतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं शास्त्रों का इस सम्बन्ध में क्या मत है तथा क्या वास्तव में मूर्तिपूजा वेदशास्त्र अनुकूल है, इसी पर इस अध्याय में कुछ विचार किया जायेगा।

मूर्ति शब्द वैदिक नहीं है अपितु लौकिक है, और जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है चारों वेदों में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। अमर कोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३, श्लोक ६६ पर लिखा है—'मूर्तिः काठिन्य काययोः'। अर्थात 'मूर्तिः' यह एक नाम कठिनपने और शरीर का है। इस प्रकार मूर्तिशब्दार्थ से सिद्ध है कि वह आकार वाली होनी चाहिए। 'आकाराविङ्गिताकृती'। (अमरकोष ३ काण्ड, नानार्थ वर्ग ३, श्लोक १६२) 'आकार आकृति को कहते हैं'। और आकार वाली वस्तु साकार होती है। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है वे शरीरधारी साकार हैं और सोने, चाँदी, पीतल, ताम्बा, लोहे, पत्थर, मिट्टी आदि कठोर धातुओं की बनी हुई होती हैं, अतः मूर्तिशब्द का जो अर्थ ऊपर दिया गया है वह संगत ही है।

हिन्दुओं में जिन मूर्तियों की पूजा प्रचलित है वे या तो परमात्माकी तीन शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पित मूर्तियां हैं या उसके अवतारों की हैं। अथवा देवताओं, देवदूतों और गुरुओं की हैं। बहुत सी मूर्तियां इनकी पत्नियों, पारवारिकजनों, सेवकों और वाहनों की हैं। शिव-पारवतीजननेन्द्रिय की गर्हित आकृति 'शिवलिङ्ग' पूजा भी भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित है।

जिन मूर्तियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनमें एक भी परमात्मा की मूर्ति नहीं है। वेद स्पष्ट कहता है कि परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है :—

नतस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहिंसीदित्येषा
यस्यसान्न जात इत्येषः । यजु० ३२ । ३ ॥

अर्थ—जिसका महान प्रसिद्ध यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है। हिरण्यगर्भ आदिमन्त्रों द्वारा तथा 'मा मा हिंसीत्' इस मन्त्र से, और 'यस्मान्नजात' इन मन्त्रों से उसका वर्णन होता है। अर्थात् उक्तमन्त्रों द्वारा जिसके महान प्रसिद्ध यश का गायन हुआ है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है। महीधर ने भी इसका यही भाष्य किया है—तस्य पुरुषस्य प्रतिमा, प्रतिमानुपमानं किञ्चद्वस्तु नास्ति अतएव नाम प्रसिद्धं महत यशः यस्यास्ति सर्वातिरक्त यशः। इत्यादि।

अर्थात उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नहीं है; इसलिए महत् यश है जिसका, ऐसा वह सबसे अधिक यशवाला है।

अतः जब उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान वस्तु ही नहीं है तब उसकी मूर्ति बन ही कैसे सकती है। यही कारण है कि जितनी भी मूर्तियां प्रचलित हैं, चाहे वह परमात्मा की शक्तियों की हों चाहे उसके अवतारों की, किन्तु स्वयं परमात्मा की एक भी नहीं है।

परमात्मा आकृति और शरीर रहित, निराकार है, अतएव उसकी प्रतिमूर्ति बनाई ही नहीं जा सकती। निम्न वेदमन्त्र परमात्मा के निराकार और अशरीरी होने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करता है।

सपर्यगाच्छुक्रमकायम व्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धं ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान
व्यदधाच्छास्वतीभ्यः समाभ्यः । यजु० ४० । ४ ॥

अर्थ—वह ईश्वर सर्वव्यापक है। जगदुत्पादक, शरीररहित शारीरिक विकाररहित, नाड़ी और नस के बंधन से रहित, पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि वर्तमान, स्वंय सिद्ध, अनादि प्रजा के लिये ठीक ठीक कर्मफल का विधान करता है।

इस वेद मंत्र में परमात्मा को 'शरीररहित,' शारीरिक विकार रहित एंव 'नाड़ी, नसके बंधन से रहित' बताकर उसके साकारत्व का अत्यन्त निषेध किया है।

वेदों में अनेक स्थलों पर परमात्मा का रूपक अलङ्कार द्वारा 'विश्वरूप' में वर्णन किया गया है। उसे देख कर लोग वेदों में ईश्वर का साकारत्व सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया करते हैं। ऐसे कुछ मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमि ꣳ सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्द शाङ्गुलम्। यजु० ३१। १॥

अर्थ—सब प्राणियों के हज़ारों शिर, हज़ारों नेत्र, असंख्य पाद जिसके बीच में हैं, ऐसा वह परमात्मा भूगोल में सब ओर से व्याप्त होकर, पांच स्थूल, पांच सूक्ष्म भूत जिसके अवयव हैं उस सब जगत को लांघ कर स्थित है अर्थात सब में और सब से प्रथक है।

इस मंत्र में परमात्मा को 'सहस्रशीर्ष,' 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' अर्थात हजारों शिर, हजारों आंख और हज़ारों पैर वाला अलंकार रूप से वर्णन किया गया है। सायण, महीधर, उदयन सभी भाष्यकारों ने इस मंत्र का वही अर्थ किया है जो यहाँ ऊपर दिया गया है। सब प्राणियों के शिर, आंख, पग आदि उसी परमात्मा के अंदर विद्यमान हैं इसी से उसे हजारों शिर, आंखों और पैरों वाला कहा है।

ऋग्वेद का एक मंत्र ईश्वरीय शक्तियों का ऐसी ही अलंकृत भाषा में निम्न प्रकार से वर्णन करता है:—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोवाहुरुत विश्वतस्पात।
स वाहुभ्यां धर्मातस पतत्रैद्यावाभूमीजनयन् देव एकः॥ ऋ० १०।८१।३॥

अर्थ—जिसके आंख सर्वत्र हैं, सर्वत्रमुख जिसके हैं, सर्वत्र जिसके वाहुकार्य कर रहे हैं, और सर्वत्र जिसके पांव है। वाहुओं से और पावों से वह सब को चलाता है। इस प्रकार एक देव द्यु लोक और पृथ्वी को उत्पन्न करता है। महीधर ने भी आँख, मुख, वाहु, पांव आदि से उन उन शक्तियों का ग्रहण किया है, साकार इन्द्रियों का नहीं। उदयनाचार्य ने भी न्याय कुसुमांजलि में इसके ऐसे ही अर्थ किये हैं। 'विश्वतश्चक्षु' का अर्थ सर्वज्ञ, 'विश्वतोमुख' का सर्ववक्ता, विश्वतोवाहु का सर्वसहकारिता, 'विश्वतस्पात्' का व्यापकता इत्यादि किया है।

अथर्वेद के कुछ मंत्रईश्वर के शरीर का इसी प्रकार अलंकृत भाषा में वर्णन करते हैं:—

यस्यभूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अ० १०।७। ३२॥

भूमि जिसका पैर है और अंतरिक्ष उदर है, द्यु लोक को जिसने अपना शिर बनाया है, उस महान ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥३३॥

सूर्य और बार बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशोयश्चक्रे प्रज्ञानी स्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥३४॥

वायु जिसका श्वासप्रश्वास है, अङ्गिरस (प्रकाशमान किरणें) जिसका नेत्र है, दिशाओं को जिसने ज्ञान का साधक (श्रोत्र) बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

वेद तथा वैदिक साहित्य में परमात्मा के विराट रूप का ऐसी ही अलंकारयुक्त भाषा में अनेक स्थलों पर वर्णन है, किन्तु उससे किसी भी प्रकार ईश्वर का साकारत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। साधारण शिक्षित लोग भी ऐसी भाषा को समझते हैं और उसके वास्तविक अर्थों को जानते हैं। वेदार्थ को न समझने के कारण चाहे किसी भाष्यकार ने वेदों में बहु देवतावाद सिद्ध करने का प्रयत्न किया हो परन्तु किसी भी भाष्यकार ने वेदों में मूर्तिपूजा प्रतिपादित नहीं की। यही कारण है कि अनेक प्रयत्न करने पर भी आज तक मूर्तिपूजा के पक्ष में वेदों का एक भी मंत्र उपस्थित नहीं किया जा सका। जो मंत्र उपस्थित किये जाते हैं उनके अर्थ किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाष्यकार ने मूर्तिपूजा पर नहीं किये।

उपनिषद् ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। यह भी ईश्वर के निराकारत्व का सर्वत्र पोषण एंव साकारत्व का सर्वथा निषेध करते हैं। इसकी पुष्टि में कतिपय उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:—

नतत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो, यथैतदनुशिष्यादन्य देव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषांयेनस्तद् व्याच चक्षिरे ॥केन १।३॥

न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी जाती है और न मन, इसलिये उसको न जानते हैं, न जान सकते हैं, जिससे उसका

उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से प्रथक है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते हैं।

यद्वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥ यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥ यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्र मिदंश्रुतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥ यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस का वाणी से सेवन किया जाता है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥ जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका मन से मनन किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥ जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आंख देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो आंख से देखा जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥ जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो कान से सुना जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥ जो प्राण से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यों में यह सुस्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि परमात्मा आकार रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्व स्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। कठ० १। २। २२॥

वह परमात्मा लोगों के शरीर में रहते हुए भी स्वयं शरीर रहित है। बदलने वाली वस्तुओं में एक रस है। उस महान् विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक मुक्त हो जाता है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ क० ३।१५॥

वह ब्रह्म शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, इस प्रकार रस नहीं और न गन्ध वाला है। वह अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला, अनुत्पन्न, सीमा रहित महत्तत्व से भी सूक्ष्म, अचल है। उसको निश्चयात्मक रीति से जान कर मनुष्य मौत के मुख से छूट जाता है।

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीत शोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ क० २।२०॥

ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, बड़े से भी बड़ा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है। उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम शोक रहित प्राणी देखता है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ क०, ६। ७॥

अव्यक्तात्त परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ क० ६। ८॥

इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार से भी सूक्ष्म महत्तत्त्व है तथा महत्तत्त्व से भी सूक्ष्म प्रकृति और जीवात्मा है। जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है जो कि व्यापक और चिन्ह आदि से रहित-निराकार-है। जिसको जानकर मनुष्य दुःखों से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

न संदृशे तिष्ठति रूप मस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तोय एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ क० ६।९॥

इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नहीं है और न आँखों से इसे कोई देख सकता है। यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है जो लोग इसे जानते हैं वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ मु० १।१।६॥

जो परमात्मा न देखा जाता है न पकड़ा जाता है जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र हैं, न श्रोत्र न हाथ न पांव हैं। वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यान्तरोऽजः अप्राणोह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ मु० २।२।२

वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान्, मूर्तिरहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्मरहित, प्राण रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रकृति और जीव से सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्त तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः मु० ३।१।८॥

वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नहीं किया जाता। उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है। अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर ध्यान करता हुआ ही उस कला रहित ब्रह्म को देख सकता है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः श्रोतस्वरणीषुचाग्निः। एव मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥श्वे० १।१५॥

जैसे तिलों में तेल, दही में मक्खन, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि, पेरने, बिलोने, खोदने और रगड़ने से प्राप्त होती है। इसी प्रकार परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है। यदि कोई सत्य और तप से उसे ज्ञान दृष्टि से देखता है।

सर्वव्यापिनमात्मनं क्षीरेसर्पिरिवार्पितम्। आत्म विद्यातपोमूलं
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ श्वे० १।१६॥

वह सर्वव्यापी दूध में मक्खन की तरह सब में समाया हुआ है। आत्म विद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है। वह ब्रह्म उपनिषद् का परम रहस्य है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं। सर्वतः श्रुतिमल्लोके
सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥श्वे० ३।१६॥

सब जगह उसके हाथ और पांव हैं, सब जगह उसके नेत्र, शिर और मुख हैं। सब जगह उसके कान हैं और वह लोक में सबको घेर कर स्थित है।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं
सर्वस्य शरणं वृहत् ॥श्वे० ३।१७॥

सारे इन्द्रियों के गुणों को प्रकाश देता है, परन्तु सारी इन्द्रियों से रहित है। वह सबका स्वामी, सब पर शासन करने

वाला तथा सबका शरण है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्य चक्षुः सश्रणोत्यकर्णः।
सर्वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्
श्वे० ३।१६

वह बिना हाथ के सबका ग्रहण करने वाला तथा बिना पांव के वेग वाला है। बिना नेत्र के देखता और बिना कान के सुनता है। वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है पर उसका अंत जानने वाला कोई नहीं। ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान पुरुष कहते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेक रूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ज्ञात्वाशिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
श्वे० ४।१४॥

वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत और उसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। उसी ने इस विश्व और उसके रूप वाले पदार्थों को रचा है। वह सारे संसार को घेरे हुए है। उसी कल्याण स्वरूप प्रभू को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्वि विधभैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच॥श्वे०६।८॥

उसका कोई कार्य नहीं, उसके इन्द्रियादि करण नहीं। उसके समान और न उससे कोई अधिक है। उसकी शक्ति सबसे महान है। उसमें ज्ञान, बल तथा कार्य करने की शक्ति स्वभाव से है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
सकारणं कारणाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ श्वे० ६।९॥

लोक में कोई उस परमात्मा का पति नहीं, न उस पर कोई

शासन करने वाला है और न उसका कोई चिन्ह है। वह जगत का निमित्त कारण है। वह इन्द्रियों के स्वामी जीवात्माओं का भी स्वामी है। वह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न उसका कोई स्वामी है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद् वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप में निराकार वर्णन करते हैं वहाँ यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अंतःकरण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा में ग्रहण किया जाता है। अतएव "मूर्ति पूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है," इस युक्ति का भी स्वतः निराकरण हो जाता है। वेद भी ईश्वर प्राप्ति की इसी विधि का निम्न शब्दों में निरूपण करते हैं:—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः,
विहोत्रादधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।
ऋ० ५।८१।१

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे, स्वर्ग्याय शक्तया।
यजु० ११।२

युजेवां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरः
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
यजु० ११।५

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञ याग करने वाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान् अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिये अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोल कर सुनलें कि पूर्वजों ने योगबल से ही प्रकाश मार्ग से यात्रा की है, इसलिये जो योग करेगा-ब्रह्म में मन लगायेगा-वही इस उत्तम गति को प्राप्त होगा।

बुद्धिवाद, अर्थात् तर्क और युक्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है,

दर्शन शास्त्रों का वैदिक साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। वैदिक साहित्य ही क्यों, यदि यह कहा जाय कि दर्शन शास्त्र संसार में प्रचलित बुद्धिवाद के उद्गम हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। दर्शनों में आज से हजारों वर्ष पूर्व जिन सूक्ष्म तत्वों पर विचार किया गया है वे अब भी पाश्चात्य विज्ञान की पहुँच से परे हैं। इनकी अद्भुत श्रृङ्खलाबद्ध तर्क शैली संसार को चकित किये बिना नहीं रह सकती। इन भारतीय बुद्धि-भंडार में से कुछ रत्न जिनमें ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, वेदान्त दर्शन से नीचे उद्धृत करते हैं:—

पत्युरसामञ्जस्यात्। वे० २।२।३७॥ सम्बन्धानुपपत्तेश्च। ३८॥ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च। ३९॥ करणवच्चेन भोगादिभ्य:। ४०॥ अन्तवत्त्वम सर्वज्ञतावा। ४१॥ उत्पत्त्य संभवात्। ४२॥ न च कर्त्तुर्कः करणम्। ४३॥ विज्ञानादिभावे तद प्रतिषेधः। ४४॥ विप्रतिषेधाच्च। ४५॥

युक्ति शून्य होने से परमात्मा का साकार होना ठीक नहीं। ३७॥ साकार ईश्वर का जगत के उपादान प्रकृति के साथ सम्बंध न बन सकने के कारण भी उक्त साकार वाद पक्ष ठीक नहीं। ३८॥ साकार वस्तु के लिये स्थान की आवश्यकता होती है, परन्तु परमात्मा का कोई एक स्थान नहीं अतः वह साकार नहीं। ३९॥ यदि परमात्मा को इन्द्रियों वाला माना जाय तो हमारी तरह उसे भी सुख दुःखादि भोग की आपत्ति होगी। अतः वह साकार नहीं। ४०॥ यदि परमात्मा को देहधारी मानें तो अन्त वाला मानना पड़ेगा और असर्वज्ञ ठहरेगा। अल्पज्ञ मानने से वह परमात्मा नहीं हो सकता। ४१॥ ईश्वर के जन्म का असम्भव होने सेभी उक्त पक्ष की सिद्धि होती है। ४२॥ परमात्मा करता के कोई करण (इन्द्रियादि) नही हैं। ४३॥ परमात्मा में सर्वज्ञादि धर्म पाये जाने से एक रस होने के कारण उसकी उत्पत्ति

नहीं हो सकती। ४४ ॥ साकार और निराकार दोनों का विरोध होने से निराकार परमात्मा साकार नहीं हो सकता। ४५ ॥ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्। वे० ३। २। १४

निराकारता बोधक वाक्यों की प्रधानता पाए जाने से भी परमात्मा निराकार है।

तदव्यक्तमाहहि। वे० ३। २। २३

निश्चय करके ब्रह्म को अव्यक्त कथन किया गया है।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः। वे० १। २। २१ ॥

निराकारादि उसके धर्म कहे जाने से परमात्मा अदृश्यत्वादि गुणों वाला है।

ईश्वर निराकारत्व विषयक वेदान्त दर्शन के जो सूत्र ऊपर दिये गये हैं वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। इन सूत्रों में विस्पष्टरूप में ईश्वर को निराकार सिद्ध किया गया है और उसकी सिद्धि में अनेक तर्क पूर्ण युक्तियाँ दी गई हैं।

"ईश्वर-प्राप्ति का क्या साधन है?" इस विषय पर पतञ्जलि मुनि ने एक अपूर्व ग्रंथ की जो 'योग-दर्शन' के नाम से सुप्रख्यात है, प्रथक ही रचना की है। इस दर्शन में चित्त की वृत्तियों को रोकना, अर्थात् बाह्य विषयों से चित्त को हटा कर जीव को अपने स्वरूप में स्थित हो जाना इत्यादि जीव तथा ईश्वर के योग (मिलाप) का साधन बताया गया है:—

योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः। समाधिपाद ॥ २ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥ योग चित्त की वृत्तियों के रोकने को कहते हैं ॥ २ ॥ तब द्रष्टा (जीव) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है ॥ ३ ॥ विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा जा रहा। "मूर्ति पूजा और योग साधन," इस विषय पर इस पुस्तक में अन्यत्र एक पृथक अध्याय लिखा गया है। अतः इस सम्बंध में वहीं विचार किया जायगा।

मनुस्मृति—जो मानव धर्म शास्त्र के नाम से सुप्रसिद्ध है आर्य जाति की एक अमूल्य सम्पत्ति है। भगवान मनु ने जिन वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का सार्वभौमिक रूप में इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है, वे आज भी मनुष्य समाज के पथ प्रदर्शन की क्षमता रखता है। मनुस्मृति के आरम्भ में ही सृष्टि-उत्पत्ति-विषय पर विचार करते हुए ईश्वर के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यहां पर भी परमात्मा को अचिन्त, अप्रमेय, अनादि, इन्द्रियातीत, परमसूक्ष्म, आकाररहित आदि उपलक्षणों वाला बताया गया है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य निधानस्य स्वयंभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य तत्त्वार्थ वित्प्रभो ॥ ३ ॥ अ० १।

क्योंकि सम्पूर्ण वेद के कार्य के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप (मनु) एक ही हैं। जो वेद कि अचिंत्य, अप्रमेय, अनादि परमात्मा का विधान है ॥ ३ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्तिदम्। महा भूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥ योसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिंत्यः स एव स्वयंमुद्बभौ ॥७॥ अ० १।

इस दशा के अनन्तर उत्पत्तिरहित और इन्द्रियों से न जानने योग्य प्रकृति को प्रेरणा करने वाले, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि कारणों के बल से युक्त परमात्मा ने इनको प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया ॥ ६ ॥ जोकि इन्द्रियों से नहीं जाना जाता और परमसूक्ष्म, नित्य, और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा आकार रहित, अतएव अचिन्त है, वही अपने आप प्रकट हुआ ॥ ७॥

इन श्लोकों में परमात्मा के प्रकट होने का अभिप्राय जगत अथवा विराट रूप में प्रकट होने से है। इनकी शैली वैसी ही

अलंकारयुक्त है जैसी कि वेद के कुछ मंत्रों की पूर्व दी जा चुकी है। आगे के श्लोकों में इसी प्रकृति रूपी शरीर से सृष्टि-उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के छटवें अध्याय में भी योग द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति का वर्णन किया है। वैसे अनेक स्थलों पर पञ्चयज्ञादि नित्यकर्मों का सबको उपदेश दिया गया है:-

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। ६५। अ० ६॥

योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतम प्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥ ७९। अ० ६॥

अपने प्रिय में सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत को छोड़कर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है।

मनुस्मृति को अद्योपांत पढ़ने पर सहज ही में कोई यह अनुमान लगा सकता है कि इस ग्रन्थ में बहुत कुछ पीछे से संमिश्रण किया गया है। इसमें इतने परस्पर विरोधी स्थल हैं जिन्हें देखकर दूसरों का हस्तक्षेप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यज्ञों में पशुवलि, मदिरा मांस भक्षण, जन्मगत वर्ण-व्यवस्था, मृतक श्राद्ध आदि वाममार्ग कालीन कुप्रथाओं का समर्थन परन्तु साथ ही उनके विरोध सूचक अनेक श्लोकों की विद्यमानता एवं प्रधानता इसके प्रबल प्रमाण हैं। इन प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त मनुस्मृति में मूर्तिपूजा अथवा अवतारवाद के समर्थन में एक भी श्लोक ढूँढे नहीं मिलता। अतः इस परिणाम पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं रहती कि मूर्तिपूजा काजन्म-काल मनुस्मृति के प्रक्षिप्त-काल से भी कहीं पीछे का है। हाँ, पञ्चयज्ञविधि — संध्या, अग्निहोत्र आदि एवं ओंकार तथा गायत्री जाप को आवश्यक नित्यनैमित्तिक कर्म बताया है, जिससे

मूर्तिपूजा का, हमारी दैनिक विधि में, स्वयमेव खण्डन हो जाता है। मनुस्मृति के ऐसे कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं:—

ऋषि यज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत ॥ ४ । २१ ॥

संध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, बलिवैश्व, अतिथि, तथा पितृयज्ञ को यथाशक्ति कभी न छोड़े और सदा करता रहे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरांचिरम् ॥४।६३

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर और आवश्यक कार्य मलमूत्र त्याग आदि करके, शुद्ध और सावधान होकर प्रातः काल की और यथा समय दूसरे काल की सन्ध्या देर तक करे।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्यु निशोः सदा।
दर्शने चार्धमासन्ते पौर्णमासेन चैवहि ॥ ४ । २५ ॥

दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्ध-मास के अन्त में आमावास्या और पूर्णिमा को यजन करे।

मङ्गलचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ ४ । १४५ ॥

उत्तम आचार से युक्त होकर, एवं संयत आत्मा तथा जितेन्द्रिय होकर नित्य निरालस्य होकर जप करे और अग्निहोत्र भी करे।

पूर्वां सन्ध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्क दर्शनात्।
पश्चिमांतु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात ॥ २ । १०१ ॥

प्रातः काल की सन्ध्या, गायत्री का जाप करता हुआ, सूर्य-दर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या नक्षत्र-दर्शन होने तक बैठकर करे।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपाच्चैवसावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् ।। २ । ८१ ।।

ओंकार से युक्त तीन अविनाशी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री वेद का मुख है ।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणिवर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ।। २ । ८२ ।।

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है और वायुवत शरीरबंधन से मुक्त हो जाता है ।

ऊपर दिये गये वेद, उपनिषद् एवं शास्त्रों के विविध उद्धरणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि ईश्वर निराकार है और इन्द्रियों का विषय नहीं है । तब उसकी प्रतिमा अथवा मूर्ति बन ही कैसे सकती है ? इन उद्धरणों से यह भी सिद्ध है कि समस्त वैदिक साहित्य में मूर्तिपूजा को कहीं और किसी भी अवस्था में ईश्वर प्राप्ति का साधन नहीं बताया गया । अतएव वेदशास्त्रों के नाम पर जो लोग मूर्तिपूजा का प्रचार करते हैं, उन्होंने या तो उनका भलीभांति अनुशीलन नहीं किया या फिर पक्षपात एवं स्वार्थवश सचाई पर पर्दा डालना चाहते हैं ।

——:०:——

मूर्तिपूजा और अवतारवाद

जिस समय मूर्तिपूजा की कल्पना की गई उस समय यह भी आवश्यक हुआ कि ईश्वर को साकार सिद्ध किया जाय। क्योंकि बिना साकार सिद्ध किये उसकी मूर्ति अथवा प्रतिमा बन ही कैसे सकती है। अतः उसकी पूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ईश्वर के तीन साकार रूप कल्पित करके की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यह एक ही ईश्वर के तीन गुणवाचक नाम हैं। परमात्मा सृष्टि रचता है, अतः उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि का पालन करता है, अतः विष्णु और संहार करता है, इसलिये महेश अथवा रुद्र है। यह तीनों कोई पृथक शरीरधारी ईश्वर अथवा उसकी साकार शक्तियां नहीं हैं, अपितु उपर्युक्त तीनों गुणों के आधार पर हम ईश्वर को तीनों ही नामों से पुकारते हैं।

इसी प्रकार वेदों में ईश्वर के अनेक गुणवाची नामों का वर्णन है। जिन्हें आगे चलकर लोगों ने अज्ञान-वश पृथक-पृथक ईश्वर अथवा देव समझ लिया। कवियों ने उनका गुणगान किया। चित्रकारों ने उनके चित्र बनाकर अपनी कला का परिचय दिया और अन्त में मूर्तिकारों ने उनकी मूर्तियां निर्माण करदीं। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, इसमें कोई दोष भी नहीं, किन्तु कालान्तर में जब स्वार्थ अथवा अज्ञान-वश इनकी जीवित महापुरुषों के समान भेंट-पूजा का प्रकार चल पड़ा और जन साधारण की संतुष्टि के लिये उनमें प्राण प्रतिष्ठा एंव चमत्कारों का आरोप किया गया, उसी समय से उसका घोर दुरुपयोग प्रारम्भ हो गया।

वर्तमान हिन्दू समाज में अवतारवाद, निराकार परमात्मा को साकार बनाने की एक दूसरी कल्पना है। ईश्वर निराकार तो है किन्तु अवतार धारण करके साकार शरीरी भी बन जाता है, और जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है, वे उनही अवतारों की प्रतिमूर्तियां हैं, ऐसा सर्वसाधारण का मत है। इस प्रकार देखा जाय तो अवतारवाद और मूर्तिपूजा का जुड़वां भाई बहन का सा घनिष्ट सम्बंध है और बहुत अंशों में यह एक दूसरे पर आश्रित हैं।

ईश्वर इस पृथ्वी पर शरीर धारण करके क्यों अवतरित होता है ? उसे इसकी क्या आवश्यकता होती है ? इसके लिये भी पुराणों में, जिनके लेखक ही वास्तव में मूर्तिपूजा के जन्मदाता हैं और जिनका समय भी मूर्तिपूजा की भांति केवल कुछ हजार वर्ष ही है, अनेक रोचक कथाओं तथा उपाख्यानों द्वारा अनेक कल्पनाएं की गई है। पुराणों में चौबीस, जिनमें मुख्य दस हैं, अवतारों की कल्पना की गई है। इन में कुछ को छोड़ कर सब ही को विष्णु का पूर्ण अथवा आंशिक अवतार माना गया है। कुछ अवतार नर रूप हैं, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर इत्यादि और कुछ पशु रूप हैं, जैसे कच्छ, मच्छ तथा सूकर। किन्तु इन समस्त अवतारों में विष्णु की प्रधानता यह सिद्ध करती है कि इस वाद की कल्पना का सूत्रपात वैष्णवों द्वारा किया गया।

अवतारवाद के पक्ष में जो युक्तियां दी जाती हैं, वे बहुत निर्बल और लचर हैं। प्रथम तो निराकार और साकार एक वस्तु के दो विरोधी गुण हो ही नहीं सकते। ईश्वर या तो निराकार है या साकार। यदि उस का भी जीव की भांति शरीर धारण करना मान लिया जाय, तो ईश्वर भी ईश्वर न रहकर जीव ही बन जाता है।

ईश्वर को क्या आवश्यकता अनुभव हुई, जिससे उसे शरीर धारण करना पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर प्राय: गीता के प्रसिद्ध श्लोक, जो हिन्दुओं में एक लोकोक्ति बन गये हैं—

यदा-यदाहि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्यतदा ऽऽत्मानं सृज्याम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८ अ० ४।

उद्धृत किये जाते हैं। इसी प्रकार श्रीमद् भागवत जो वैष्णव सम्प्रदाय का मूल ग्रंथ है, का निम्न श्लोक भी यही आशय प्रकट करता है:—

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयोवृद्धिश्च पाप्मान्।
तदातु भगवानीश आत्मानं सृजते हरि ॥५६॥ स्कं० ६ अ०२४।

उपर्युक्त श्लोकों का यही भाव है कि जब-जब धर्म का क्षय होने लगता है और पाप बढ़ जाता है, तब-तब भद्रपुरुषों की रक्षा करने एवं धर्म के स्थापनार्थ परमात्मा अवतार लेता है। किन्तु देवी भागवत में जो शाक्त सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मुख्य पुराण है इस युक्ति की तीव्र आलोचना की गई है:—

माया विमोहिता मन्दा: प्रवदन्ति मनीषिण:।
करोति स्वेच्छयाविष्णुरवताराननेकश: ॥४७॥
मन्दोऽपि दु:खगहने गर्भवासे ऽतिसंकटे।
न करोतिमतिं विद्वान् कथं कुर्य्यात् स चक्रभृत् ॥४८॥
कौसल्या देवकी गर्भे विष्ठामलसमाकुले।
स्वेच्छया प्रवदंत्यद्धागतो हि मधुसूदन: ॥४६॥
वैकुण्ठ सदनं त्यकत्वा गर्भवासे सुखं नु किम्।
चिन्ता कोटि समुत्थाने दु:खदे विषसंमिते ॥५०॥

(देवी भागवत स्कं० ३ अ० २६)

अर्थात् माया से मोहित हुए मूर्ख विद्वान् कहते हैं कि विष्णु अपनी इच्छा से अवतार लेता है। मूर्ख मनुष्य भी दुःख से परिपूर्ण कष्ट युक्त गर्भवास की इच्छा नहीं करता पुनः वह चक्र-धर विष्णु कैसे कर सकता है? लोग कहते हैं कि मलमूत्र से पूर्ण कौसल्या और देवकी के गर्भ में विष्णु स्वेच्छा से गया। भला वैकुंठ को छोड़ कर कोटि चिन्ताओं को उत्पन्न करने वाले कष्टदायक विषतुल्य गर्भवास में सुख ही क्या है?

इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी अवतार का कारण वर, शाप और शुभाशुभ कर्म बतलाया है। शरीर की उत्पत्ति के लिये जिन बातों की आवश्यकता है वह परमात्मा में नहीं घटतीं। आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध का नाम जन्म है। जन्म से सुख दुःख हुआ करता है। जन्म के लिये धर्माधर्म रूप कारण का होना आवश्यक है। धर्माधर्म के लिये प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के लिये रागद्वेष और रागद्वेष के लिये मिथ्याज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु परमात्मा में मिथ्या ज्ञान का सर्वथा अभाव है अतः उसका जन्म असम्भव है। पतंजलि ने—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।यो० १।२४।।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से उत्पन्न होने वाले कर्म और कर्मफल एवं वासना से जो रहित है, वही ईश्वर है।—इस सूत्र में भी इसी बात को स्पष्ट किया है।

कुछ लोग समझते हैं कि जिस प्रकार जीवात्मा बिना शरीर के कार्य करने में असमर्थ है, उसी प्रकार ईश्वर भी बिना शरीर धारण किये सृष्टि रचना नहीं कर सकता; किन्तु लोग भूल जाते हैं कि जीव एक देशीय है और ईश्वर सर्वव्यापक है। जो शक्ति प्रत्येक परमाणु के भीतर व्याप्त है, उसके लिये इन

परमाणुओं को गति देने के लिये किसी बाह्य करण अथवा अवयव की आवश्यकता नहीं। जीव को एक देशीय होने के कारण शरीरादि साधनों की आवश्यकता है किन्तु परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, अतः उसे बाह्य साधन अपेक्षित नहीं।

वास्तव में यदि हम निष्पक्ष होकर विचारें तो अवतारवाद ईश्वर की महानता पर एक कलङ्क है। जो ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है, उसे साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाशार्थ जन्म मरण के बंधन में आने की आवश्यकता ही क्या है? जो परमात्मा रावण, कंसादि दुष्ट राक्षसों के जन्म देने की सामर्थ्य रखता है, क्या वह उनका बिना शरीर धारण विनाश नहीं कर सकता? बनाना बिगाड़ने से दुष्कर है। अतः दुष्टों का विनाश करने के लिये उसका शरीर धारण करने की कल्पना ही सर्वथा निर्मूल एवं निराधार है। संसार का इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में दुष्ट आतताई होते रहते हैं और उनका राजा अथवा संसार के वीर पुरुषों द्वारा विनाश भी होता रहता है। इसके लिये ईश्वरावतार की आवश्यकता ही क्या है? कौनसा कार्य है जिसे ईश्वर बिना अवतार धारण किये नहीं कर सकता?

जो लोग राम, कृष्ण आदि महान् ऐतिहासिक पुरुषों को ईश्वरावतार बताते हैं, सत्य तो यह है कि जहाँ एक ओर वे इन्हें ईश्वरावतार बताकर उनके पराक्रमयुक्त कार्यों का महत्व घटाते हैं, वहाँ दूसरी ओर जन-साधारण को इनके इन कार्यों से प्रोत्साहन ग्रहण करने में भी बाधक सिद्ध होते हैं। यदि राम ईश्वर हैं तो उनका कोई भी कार्य महत्वपूर्ण नहीं। ईश्वर के लिये तो यह कार्य नितान्त साधारण हैं। यही बात अन्य अवतारों के लिये भी कही जा सकती है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि

जो पराक्रम राम अथवा कृष्ण ने किये हैं, वे ईश्वरीय कार्य हैं, तो उसे उनके अनुकरण करने का साहस ही उत्पन्न नहीं होता। वह अपने को एक तुच्छ जीव समझकर अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। अवतारवाद का सिद्धान्त, मूर्तिपूजा की भांति ही हिन्दुओं को नपुंसक बनाने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुआ है। इसी का परिणाम है कि संसार की जातियां अपने बाहुबल से कहीं की कहीं पहुँच गई; किन्तु अभागी हिन्दू जाति हाथ पर हाथ रक्खे कल्कि अवतार की आज भी बाट देख रही है। इस प्रकार इस 'वाद' से लाभ के स्थान पर एक ऐसी हानि हो रही है जिसकी पूर्ति बिना इस मिथ्या विचार को हटाये नहीं हो सकती।

वेद उपनिषद्, शास्त्र सभी ईश्वर को अजन्मा एवं निर्विकार प्रतिपादन करते हैं। सब ही उसको जीवन-मरण के बंधन से मुक्त बताते हैं:—

अजो नक्षा दाधार पृथ्वीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः। प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहंगा। ऋ० १।६७।३

अर्थः—जैसे अज अर्थात् न जन्म लेने वाला अजन्मा परमेश्वर न टूटने वाले विचारों से पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्यौलोक को पकड़े हुए है। प्रीतिकारक पदार्थों को देता है। सम्पूर्ण आयु देने वाला, बंधन से सर्वथा छुड़ाता है। बुद्धि में स्थित हुआ वह गोप्य पदार्थ को जानता है। वैसे तू भी हे विद्वान् जीव हमें प्राप्तव्य की प्राप्ति करा।

शन्नो अज एक पादेवोऽस्तु शन्नोऽहि बुध्न्यः शं समुद्रः।
शन्नो अपां नपात्पेरुरस्तु शंनः पृश्निर्भवतु देवगोपाः॥
ऋ० ७।३५।१३।

एक पात् अजन्मा परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी होवे। अन्तरिक्ष में होने वाले मेघ हमारे लिये कल्याणकारी हों। समुद्र सुखदायी हो। पाद रहित होकर जलों को पार करने वाली अर्थात नौका आदि हमारे लिये सुखकारक हों। सूर्यादि की रक्षा करने वाला अन्तरिक्ष हमारे लिये सुखकारी हो।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थर्भुवनानि विश्वा॥
यजु० ३१। १६॥

अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला अजन्मा परमेश्वर, गर्भस्थ जीवात्मा और सब के हृदय में विचरता है। और बहुत प्रकारों से विशेष कर प्रकट होता है। उसके स्वरूप को धीर लोग सब ओर देखते हैं। उसमें सब लोक लोकान्तर स्थित हैं।

ब्रह्म वा अजः। शत पथ० ६। ४। ४। १५।

ब्रह्म ही अजन्मा है

उपनिषदों में भी परमात्मा को स्थान-स्थान पर अजन्मा वर्णन किया गया है:—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्म वादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।
श्वे० ३। २१॥

मैं उस ब्रह्म को जानता हूं जो पुराना है और अजर है। सब का आत्मा और विभु होने से सर्वगत है। ब्रह्मवादी जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं क्योंकि वह नित्य है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं।
विरजः पर आकाशाद अज आत्मा महान् ध्रुवः॥
बृ० ४।४। २७

इस अविनाशी अप्रमेय ब्रह्म को एक ही प्रकार से देखना चाहिये, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् और अविनाशी है।

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्या भ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ मुण्ड० २।१।

वह दिव्य पुरुष बिना मूर्ति के है, बाहर और अन्दर दोनों जगह विद्यमान है। बिना प्राण और मन के है। शुभ्र है और अव्यक्त प्रकृति के परे है।

अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
श्वे०२।४

अजन्मा ध्रुव सारे तत्त्वों से अलग परमात्मदेव को ब्रह्म तत्वदर्शी जानकर पाशों से छूट जाते हैं।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽअमरोऽअमृतोऽभयो ब्रह्म।
बृ० ४।४।२५॥

वह महान अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अभय, अमृत ब्रह्म है।

दर्शन शास्त्र भी परमात्मा को अजन्मा ही बताते हैं:—

उत्पत्यसंभवात्। वेदान्त। २।२।३६॥

ईश्वर के जन्म का असंभव पाए जाने से उसका कोई कर्त्ता नहीं।

न च कर्त्तुः करणं। वे० २।२।४०

और न उस कर्त्ता परमात्मा का कोई करण इन्द्रियादि है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। वे० २।२

इस पर श्री० स्वा० शंकराचार्य का भाष्य देखने योग्य है:—
लोकदृष्टयनुसारेण इश्वरस्यापि किञ्चित्करणंनामायनं शरीरं

कामेन कल्प्यते । एवमपि नोपपद्यते । स शरीरेत्वे हि सति संसारी वद् भोगत्वप्रसंगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ।

अर्थात् लोक दृष्टि के अनुसार परमात्मा का भी इन्द्रियों का अधिष्ठान यदि शरीर मानें तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के शरीर वा इन्द्रियादि मानने से उसे भी संसारी जीवों की तरह सुख दुःख भोक्ता मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा।

अवतारवाद के खंडन में जितने भी प्रमाण यहां उद्धृत किये गये हैं, वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। समस्त प्राचीन वैदिक साहित्य इस वाद का सर्वथा निषेध करता है। अतः सिद्ध है कि वैदिक काल से बहुत पीछे जब मूर्ति पूजा की सृष्टि की गई तो ईश्वर को साकार सिद्ध करने के लिये अवतारवाद की कल्पना की गई।

कुछ लोग वेद शास्त्रों में 'मूर्तिपूजा न करो' अथवा 'ईश्वर अवतार नहीं लेता' इस प्रकार के विरोध सूचक स्पष्ट मंत्रों का अभाव बताकर यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वेद शास्त्रों में इनका समर्थन नहीं है तो विरोध भी नहीं है। किन्तु लोग यह भूल जाते हैं कि किसी वस्तु का स्पष्ट निषेध, उसके प्रचार के पीछे उसके दोष देखकर ही सम्भव है। जब जो वस्तु प्रचलित ही नहीं थी, तब उसका निषेध कैसा ? जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, मूर्तिपूजा और अवतारवाद का जन्म काल वैदिक काल से बहुत पीछे का है। अतएव यदि वैदिक साहित्य में उनका स्पष्ट निषेध अथवा विशेष खंडन नहीं है, तो इसमें न कोई आश्चर्य है और न कोई दोष है।

मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद।

मूर्तिपूजा का एक अन्य आधार बहुदेवतावाद की कल्पना भी है। जैसाकि हम पहले लिख चुके हैं, वेदों में ईश्वर के अनेक गुण वाची नामों का उल्लेख है। लोगों ने भूल से उनमें पृथक-पृथक देवों की कल्पना करली और उनकी मूर्तियां बना कर पूजी जाने लगीं।

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य में 'देव' शब्द को न समझने से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। 'देव' शब्द 'दिवु' धातु से बना है जिसके अनेक अर्थ हैं:—क्रीड़ा, व्यवहार, द्युति, मोद, स्वप्न, विजिगीषा, स्तुति, मद, कान्ति, तथा गति। इस प्रकार कोई भी पदार्थ जो उपरोक्त अर्थवाची है 'देव' है। वैदिक संस्कृत में एक-एक शब्द अनेकार्थ वाची था किन्तु दीर्घकालान्तर में वह रूढ़ी और एकयार्थ वाची बन गया। 'देव' शब्द भी उन ही में से एक है। देव के उपरिलिखित अर्थों में एक अर्थ 'द्युति'—'प्रकाश युक्त' भी है, अतः जहां इसका अर्थ 'ईश्वर' तथा 'विद्वान्' वाची हुआ वहाँ 'सूर्य', 'चन्द्र' आदि प्रकाश युक्त जड़ पदार्थ भी होता है। प्राचीन वैदिक निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'देव' शब्द के निम्नार्थ किये हैं :—

देवो दानाद् व, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्यु स्थानो भवती-

तिवा। निरुक्त अ० ७, खं० १५ ॥

'जो देता है वा प्रकाश करता है वा प्रकट करता है अथवा जो प्रकाश का पुञ्ज है, वह देव है'। इस प्रकार दानदाता देव है। सत्युपदेष्टा आचार्य विद्वान्, माता पिता देव हैं। सूर्य, चन्द्रादि प्रकाश युक्त लोक भी देव हैं। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, 'वेद विषय विचार' के अन्तर्गत 'देव' शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं:—

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्गं प्रजापतिः परमेश्वरः नराः कामः विद्वान्, अतिथिः माता पिता आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति

गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मंत्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ और उनके अंग, राजा, परमेश्वर, मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता और आचार्य।

एक स्थान पर यजुर्वेद में इन्द्रियों को देव कहा है:—

ननैद् देवा आप्नुवन्। जयुर्वेद ४०।४ ॥

इन्द्रियां उस परमेश्वर तक नहीं पहुँच सकती।

अतः जब देव शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो वेदों में इसे बहुवचन में प्रयुक्त हुआ देखकर यह कहना कि वेदों से 'बहु-देवतावाद' सिद्ध होता है, सर्वथा अनुचित है।

वेदों में सूर्य, चन्द्र, बिजली, पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों के लिये देव शब्द प्रयुक्त होते देख कर, लोगों ने यह धारणा बनाली कि वेदों में इनकी पूजा का विधान है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन स्थलों पर उनकी पूजा का संकेत मात्र भी नहीं है। जब देव के अर्थ केवल ईश्वर अथवा किसी दिव्य पदार्थ के अधिष्ठातृ-देव यथा—मेघ का इंद्र, जल का वरुण,

सूर्यलोक का सूर्यदेव, इत्यादि निश्चित रूप से समझे जाने लगे तो लोगों को यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि वेदों में बहुदेवतावाद और उन देवों की पूजा का विधान है। आगे चल कर इसी कल्पना के आधार पर उन-उन देवों की मूर्तियां बनाली गई और उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। किन्तु जैसे-जैसे मूर्तिपूजा आय का एक अच्छा साधन सिद्ध होने लगी, वैसे-वैसे प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु का एक पृथक अधिष्ठातृ-देव कल्पित कर लिया गया और उस देव की मूर्ति निर्माण करके उसकी पूजा प्रचलित कर दी गई। जन साधारण हिन्दुओं की आज भी यह धारणा है कि नदी, पहाड़, अग्नि, वायु, आदि समस्त प्राकृतिक जड़ पदार्थों के पृथक्-पृथक् अदृश्य अधिष्ठातृ देव हैं। पुराणों में इनकी पूजा का स्थान-स्थान पर वर्णन है। किन्तु यह अधिष्ठातृ देव क्या हैं, कैसे हैं और कहाँ हैं ? इसकी कभी कोई जानने की चिन्ता नहीं करता। क्या उनकी आत्मा की भाँति कोई चेतन सत्ता है ? निश्चय ही उनकी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, क्योंकि जड़ वे हो नहीं सकते। फिर क्या वह ईश्वर की भाँति सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान और कर्म फल दाता हैं ? यदि उन्हें सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान और कर्म फल दाता मान लिया जाय तो फिर इनमें और ईश्वर में क्या भेद है ? अथवा वे अजर अमर हैं ? इत्यादि प्रश्नों का कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

पुराणों में साधारण मनुष्यों की भाँति देवों का पारस्परिक युद्ध, ईर्षा, द्वेष पूर्ण अनेक कथाओं का वर्णन है, जो बहुदेवतावाद का स्वाभाविक परिणाम है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस प्रकार राज्य प्रबन्ध के लिये अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सृष्टि को नियम में रखने के

लिये अनेक देवताओं की आवश्यकता है। किन्तु यह भ्रम ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता को न समझने से ही उत्पन्न होता है। राजा एक देशीय होने से सर्वज्ञाता नहीं है और अल्प शक्ति रखने के कारण प्रजा पर अकेला शासन भी नहीं कर सकता, अतः उसे अपनी सहायता के लिये अनेक राज्य-कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। किन्तु ईश्वर सर्वव्यापक होने से सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने से उसे अपने कार्य के लिये किसी अन्य शक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं।

अब प्रश्न यह है कि जब वेदों में इन देवों की पूजा का कहीं विधान नहीं हैं तो फिर यह भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, वैदिक भाषा में एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था; किन्तु आगे चल कर उनके अर्थ सीमित हो गये और वेद मंत्रों के कुछ के कुछ अर्थ समझे जाने लगे। इसी प्रकार ईश्वर के भी अनेक गुण होने से उसके अनेक गुणवाची नामों का वेदों में उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा भी है:—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गुरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
> ऋग० १। १६४। ४६॥

एक सद्वस्तु परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान, यम तथा मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। अर्थात् इन नामों से उस एक ही वस्तु का वर्णन होता है।

यजुर्वेद में ईश्वर को अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा शुक्र आदि कहा गया है:—

तदेवाग्निस्तदादित्य स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ य० ३२ । १

अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इन शब्दों द्वारा परमात्मशक्ति का बोध होता है। अर्थात् प्रकाश स्वरूप होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि, कभी विनाश न होने से आदित्य, जगत का धारण तथा जीवन होने से वायु, आनन्द स्वरूप होने से चन्द्रमा, अत्यन्त पवित्र होने से शुक्र, सबसे बड़ा होने से ब्रह्म तथा प्रजा का पालन करने से प्रजापति है। इस प्रकार स्वयं वेदों से अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनमें ईश्वर के लिये अनेक ऐसे नाम प्रयुक्त हुए हैं, जिनका जीवधारी मनुष्य, एवं प्राकृतिक पदार्थों के लिये भी प्रयोग होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमने उनको अनेक देवता समझ लिया और ईश्वर के स्थान में उनकी पूजा प्रारम्भ करदी। आज भी हम ईश्वर को माता, पिता, बन्धु सखा आदि अनेक नामों से सम्बोधन करके उसकी प्रार्थना करते हैं किन्तु उससे यह भ्रम किसी को नहीं होता कि हम अपने माता, पिता, बन्धु आदि की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे हैं। इसी प्रकार वेदों में जहाँ-जहाँ सूर्य, चन्द्र, वरुण इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की स्तुति, प्रार्थना का प्रसङ्ग है, वहाँ उससे तात्पर्य परमात्मा की स्तुति प्रार्थना ही समझना चाहिए, जड़ जगत् की वस्तु नहीं।

वेदों में केवल एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है, इसे आज योरुप के विद्वान् भी स्वीकार करने पर विवश हुए हैं और सायणाचार्य आदि वेद भाष्यकारों की शैली तक का, जिसके आधार पर बहुत से पश्चिमी विद्वान वेदों में बहुदेवतावाद की प्रतिच्छाया देखते हैं, खंडन करते हैं।

मिस्टर राथ ने अपने प्रसिद्ध कोष के पहिले भाग के ४–६ पृष्ठों में जो लिखा है उसका सार हम नीचे देते हैं:—

वह लिखते हैं, वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नहीं है अपितु उन अर्थों का जो वैदिक ऋषियों के मन में थे, ढूंढ़ निकालना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिबिम्ब वेदों में देखते हैं—सत्य वेदार्थ प्रायः सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अतः अपने-अपने समय के धार्मिक विचारों का समावेश वेदार्थ में करते आये हैं। इसी प्रकार मि० हिटनी (Whetnay), जे० म्यूर (J. Muir) तथा वीबर (Biber) ने अपने ग्रन्थों में राथ के उपर्युक्त विचारों का समर्थन किया है।

भारतवर्ष के धार्मिक जगत में युगान्तर उपस्थित करने वाले बीसवीं शताब्दि के प्रसिद्ध सुधारक तथा वेद भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने तो अपने वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि वेदों में केवल एक ईश्वर पूजा का ही प्रतिपादन है और बहुदेवतावाद का सर्वथा निषेध है। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रसिद्ध विचारक श्रीयुत् अरविंद घोष ने स्वा० दयानन्द और सायणाचार्य के भाष्य शैली की तुलनात्मक समालोचना करते हुए स्वा० दयानन्द का समर्थन किया है और लिखा है:—

"यहां स्वा० दयानन्द का विचार बिल्कुल स्पष्ट और अखंडनीय है कि वेद एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं जिसके प्रमाण "एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति" इत्यादि सहस्रों वेद मंत्र हैं, जो सारे वेद में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। इत्यादि-इत्यादि!"

परमात्मा एक ही है, इस विषय की पुष्टि में कुछ स्पष्ट वेद मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।१६॥
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।१७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।१८॥

ईश्वर न दूसरा है न तीसरा है न ही चौथा कहलाता है ।१६
न पाचवां है, न छठा है, न सातवां ही कहलाता है ।१७॥
न आठवां है न नवां है न ही दसवां कहलाता है ।१८॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । अर्थव० १३।४
वह सर्व शक्ति है, वह एक है, एकवृत और एक है ।

—:०:—

मूर्तिपूजा और रामायणकाल

रामायणकाल का ठीक-ठीक समय निश्चय करने में तो इतिहासिकों में मतभेद हो सकता है; किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण में वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से दीर्घकाल पूर्व घटी। यह वह समय था जब वैदिक मर्यादा तथा आर्य-संस्कृति का लोप नहीं हुआ था। किन्तु इतना स्पष्ट है कि मांसाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियों का सूत्रपात होगया था। वैदिक कर्मकाण्ड में प्रवृत ऋषि, मुनियों के यज्ञों को मांसादि अपवित्र वस्तुओं से विध्वंस करने की दुष्ट चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी। यदि देखा जाये तो इन्हीं वैदिक यज्ञों एवं संस्कृति की रक्षार्थ उस समय जो कुछ प्रयत्न किया गया, वही रामायण की कथा का मुख्य कथानक है।

इस समय रामायण सम्बन्धी जितनी भी सामिग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उस सबका आधार ऋषि वाल्मीकि कृत रामायण ही है। किन्तु आज जितनी भी वाल्मीकि रामायणें मिलती हैं, उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक संख्या-विभिन्नता तथा अनेक अप्रासंगिक एवं प्रकृति नियम विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह सब ही मानते हैं कि अन्य ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री की न्यूनता नहीं है। इस समय वाल्मीकि रामायण की दो प्रकार की प्रतियां मिलती हैं, एक गौड़ वा बंग देश की और दूसरी बम्बई की। बम्बई की प्रति में बंग

देश की प्रति से एक कांड (उत्तरकाण्ड) ६३ सर्ग तथा ४७३५ श्लोक अधिक हैं। इटली भाषा में गौरीसियों (Gorreseo) संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् कृत रामायण का जो अनुवाद मिलता है, उस में भी उत्तरकाण्ड रहित केवल छः काण्ड हैं। इसी प्रकार चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बनी थी और जिसमें वाल्मीकि रामायण का सार लिखा है, युद्धकाण्ड तक ही है। युद्ध कण्ड समाप्ति पर स्वयं वाल्मीकीय-रामायण में रामायण का महात्म्य वर्णन किया गया है जोकि किसी ग्रन्थ के आदि या अन्त में ही लिखा जाता है,सिद्ध करता है कि उत्तरकाण्ड का समावेश पीछे से किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त स्पष्ट प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त रामायण में सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञों का वर्णन है, मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति की भांति वाल्मीकि रामायण में भीमांसाहार एवं यज्ञ में पशुबलि दीजाने की पुष्टि तो कुछ प्रक्षिप्त श्लोकां द्वारा अवश्य की गई है, जिसमें वाममार्ग का स्पष्ट हाथ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूर्तिपूजा विषयक श्लोकों का सर्वथा अभाव, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जिस समय में यह प्रक्षिप्त भाग मिलाये गए, उस समय में भी इस देश में मूर्तिपूजा जारी नहीं हुई थी। अतः हमारी यह धारणा कि मूर्तिपूजा का प्रचार इस देश में बौद्ध काल से पूर्व नहीं था, निराधार नहीं है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तर काण्ड से निम्नश्लोक मूर्तिपूजा के पक्ष में प्रायः उपस्थित किया जाता ह :—

यत्रयत्र स्मयातिस्म रावणो राक्षेश्वरः।
जाम्बूनदमयंलिंगं तत्र तत्रस्म नीयते ॥

रावण जहाँ-जहाँ जाता है, अपने साथ सुवर्णमय लिङ्ग ले

जाता है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि 'बालुका-वेदि मध्ये तु तल्लिंगं स्थाप्य रावणः' अर्थात् बालू की वेदि पर रावण ने लिंग की स्थापना की इत्यादि। प्रथम तो यह श्लोक उत्तर काण्ड के हैं, जिसे हम अनेक प्रमाणों द्वारा प्रक्षिप्त भाग सिद्ध कर चुके हैं। किन्तु इन्हें यदि ठीक मान भी लिया जाए तो यह कृत्य राक्षसी था। यह भी ठीक ही है कि शिवलिङ्ग पूजा का प्रचार बाममार्ग द्वारा हुआ और रावण भी वाममार्गी ही था। अतः इससे हमारे पक्ष को हानि नहीं होती।

उस समय आर्य लोग प्रातः सायं संध्योपासना, अग्निहोत्र करते थे, इसका वाल्मीकि रामायण में बाहुलता से वर्णन है। विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण से कहा कि :—

'स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोतम' (१८ सर्ग २३ बालकाण्ड) हम लोग स्नान करेंगे और जप करके हवन करेंगे।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यापायद्रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत। २।

सर्ग ४६, अयो० कांड

उसी प्रकार चलते हुए रामचन्द्र को वह कल्याणमयी रात बीत गई। प्रातः काल की संध्या करके वे आगे दूसरे देश में गए।

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मेणनाहृतं स्वयम्। ४८।

सर्ग ५० अयो० कांड

तदनन्तर रामचन्द्र ने चीर ओढ़ कर सायंकाल की संध्या की और लक्ष्मण का लाया हुआ जल ही ग्रहण किया।

राम ने लक्ष्मण से कहा :—

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।

अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संहितो मुनिः । ५ ॥

सर्ग ५४, अयो० काण्ड

प्रयाग के पास भगवान अग्नि की ध्वजा, सगंध धूम देखो, इससे प्रतीत होता है कि मुनि यहीं हैं, कहीं बाहर नहीं गए।

इसी प्रकार भरत, शत्रुघ्न के भी हवन और जप करने का उल्लेख है :—

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातस्ते सुहृद्वृताः ।
मदाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमत् २ ।

सर्ग १०५, अयो० काण्ड

रात्रि के बीतने पर वे भाई मित्रों के साथ मंदाकिनी तीर पर स्नान हवन और जप करके रामचन्द्र के पास आए।

इसी भान्ति ऋषि, मुनियों द्वारा अग्निहोत्र करने का भी वर्णन है :—

वासं चक्रुर्मुनिगणाः श्रोणाकूले समाहिताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः । २० ॥

सर्ग ३१। बालकाण्ड

सूर्य के अस्त होजाने पर, स्नान करके उन मुनियों ने अग्निहोत्र किया। सीता महारानी भी संध्या करती थीं— हनुमान जी सीता की खोज करते हुए अशोक वाटिका के सरोवर को देखकर कहते हैं —

सन्ध्याकाल मनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी । ५० ।
यदि जीवति सा देवी ताराधिपति मानना ।
आगमिष्यति साऽवश्यमिमांशीतजला नदीदम् । ५१ ॥

सर्ग १४। सुन्दर काण्ड

संध्या काल में मनवाली देवी सीता संध्या करने के लिए इस शुभजल वाली नदी पर आवेगी। यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीवित है तो इस शीतल जलवाले सुरम्य सरोवर पर अवश्य आवेगी।

उपर्युक्त समस्त उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि किसी टीका-टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। इन से सिद्ध है कि रामायण-काल वेदप्रतिपादित यज्ञादि का काल था और उसमें कहीं भी मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं।

कैसे आश्चर्य की बात है कि भगवान् राम स्वयं संध्योपासना और अग्निहोत्र करें किन्तु उनके भक्त उनकी मूर्तिपूजा करके अपने आपको कृतकृत्य समझें। भगवान् बुद्ध के भक्तों ने भी उनके आदेशों पर न चलकर उनकी मूर्ति की पूजा प्रारम्भ कर दी थी। परन्तु बौद्ध नास्तिक थे, उनके समक्ष उनका कोई उपास्य देव नहीं था, अतः उन्होंने यदि ऐसा किया तो अस्वाभाविक नहीं है। दुःख तो राम के भक्तों पर है, जिन्होंने आस्तिक होते हुए भी राम के आदर्शों को न अपनाकर उनके स्थान पर उनकी मूर्ति की पूजा प्रचलित करदी।

तुलसीकृत रामायण में कुछ स्थलों पर मूर्तिपूजा का वर्णन, श्री तुलसीदास जी की अपनी निजी कल्पना है। वह स्वयं वैष्णव थे, अतः यह स्थल केवल उनके अपने विचारों के ही प्रतिबिम्ब हैं, उनका आधार बाल्मीकिकृत रामायण नहीं। न सीता जी ने स्वयंबर के समय देवी की जाकर पूजा की और न राम ने सेतुबन्ध के अवसर पर रामेश्वर में शिवलिङ्ग की स्थापना अथवा पूजा की। वाल्मीकीय रामायण में इतना वर्णन है कि लंका से विमान द्वारा लौटते समय राम ने सीता से संकेत करके कहा कि यहां महादेव की कृपा से हमने समुद्र का पुल बांधा थाः—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्ध इतिख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥२०॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥२१॥
(युद्ध काण्ड सर्ग १२५)

यह बड़े समुद्र का तट दिखाई पड़ रहा है, इसे सेतुबंध कहते हैं, यह तीन लोक में प्रसिद्ध है। यह परम पवित्र स्थान है, यहां पापी महापातकों का प्रायश्चित करते हैं। यहां ही सर्व-व्यापक, देवों में बड़े, महादेव परमात्मा ने हम पर कृपा की। उपरोक्त श्लोकों में कहीं भी शिवलिङ्ग स्थापना तथा उसके पूजन की बात नहीं है। सम्भवतः महादेव शब्द, जिसके अर्थ देवों में महान-परमात्मा है, को देखकर तुलसीदास जी ने शिवलिङ्ग स्थापना एवं उसकी पूजा की कल्पना करली।

जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का आधार आधेय सम्बन्ध है; किन्तु बाल्मीकीय रामायण से राम का ईश्वरावतार होना भी सर्वथा असिद्ध है। समस्त रामायण में राम को कहीं भी ईश्वरावतार नहीं लिखा। हां कहीं-कहीं, विष्णु के समान अथवा विष्णु का अंश अवश्य लिखा है! किन्तु यदि हम विचारपूर्वक स्थलों को देखें तो यह पीछे से मिलाये हुए प्रतीत होते हैं। अन्यथा स्वयं भगवान् राम ने अनेक स्थानों पर अपने आपको मनुष्य ही घोषित किया है। रामचन्द्र सीता से कहते हैं—

या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा ।
दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः ॥५॥

जो तू चलायमान चित्त वाले राक्षस रावण से हर ली गई थी, यह दैवकृत दोष था, जो मुझ मनुष्य ने जीत लिया।

यत्कर्त्तव्यं मनुष्येण धर्षणा प्रतिमार्जिता।
तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकांक्षिणा ॥१३॥
(युद्ध कां० सर्ग ११५)

शत्रु द्वारा किये गये अपमान को मिटाने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना चाहिये वह मैंने मान चाहते हुए रावण को मार कर किया।

अथात्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ॥१३॥
(युद्ध कां० स० ११७)

अबमैं अपने आपको दशरथ का पुत्र मनुष्य राम मानता हूँ।

इसी प्रकार ऋषि नारद ने बाल्मीकी मुनि से राम के गुण वर्णन करते हुए कहा कि राम पराक्रम में विष्णु के समान हैं, यह नहीं कहा कि विष्णु हैं अथवा विष्णु के अवतार हैं.—

आर्य्यः सर्वसमश्चैव सदैक प्रियदर्शनः।
स च सर्वगुणोपत कौशल्यानन्द वर्धनः ॥१६॥
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ॥१७॥
बालकाण्ड स० १

वह आर्य हैं, वह सबको समान दृष्टि से देखने वाले हैं। वह सब गुणों से युक्त कौशिल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु के समान और प्रिय दर्शनमें चन्द्रमा के तुल्य हैं।

सीता के वियोग पर राम ने जो विलाप किया वह भी उनको ईश्वरावतार सिद्ध न करके मनुष्य ही सिद्ध करता है। इस विलाप का बाल्मीकीय रामायण में बड़ा करुणाजनक वर्णनहै

विस्तारभय से समस्त श्लोक न देकर कुछ थोड़े नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

एवं संविलपन् रामः सीता हरण कर्षितः।
दीन शोक समाविष्टो मुहूर्तं विह्वलो ऽभवत् ॥ २९ ॥
सन्तप्तो ह्यवसन्नाङ्गो गत बुद्धिर्विचेतः।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्याशीतमायतम् ॥ ३० ॥
आ० कां० सर्ग ५६

इस प्रकार विलाप करते और सीता हरण से दुःखी हुए दीन, शोक युक्त राम थोड़ी देर के लिये व्याकुल हो गये। दुःख से कृश अंगों वाले निःसंज्ञ तथा चेष्टा रहित राम आतुर हो बड़ा उष्ण श्वास लेकर बैठ गये।

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः कामेन शोकेन च पीड्यमानः।
विषादयं भ्रातरमार्तरूपो भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम ॥ १ ॥
न मद्विधोदुस्कृत कर्मकारी मन्ये द्वितीयो ऽस्ति वसुंधरायाम्।
शोकेन शोकोहि परम्पराया मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥३॥
पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्मण्यसंस्कृतकृतानि।
तत्रायमद्यापततो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥४॥
राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननी वियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥५॥

प्रिय विहीन तथा काम व मोह से पीड़ित दुःखित रूप वाले राजपुत्र राम अपने भाई (लक्ष्मण) को दुःखी करते हुए पुनः तीव्र दुःख में निमग्न हो गये। मैं यह जानता हूँ कि पृथ्वी पर मेरे समान अशुभ कर्म करने वाला दूसरा नहीं है। हृदय तथा मन को बींधता हुआ शोक पर शोक परम्परा से मुझे प्राप्त होता है।

निश्चय ही मैंने अनेकबार मन चाहे पाप किये हैं उन्हीं का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है। जिससे मैं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हूँ। हे लक्ष्मण! राज्य का नाश, घर वालों का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग स्मरण, ये सब मेरे शोक को बढ़ाते हैं।

इसी स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भांति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवतः राक्षसों ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पड़ा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खालिया है, इसमें संदेह नहीं है। अब यह सीता को खाकर सुखपूर्वक पड़ा है। मैं इसे बाणों से मारूँगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रबलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दुःखों का कारण अपने कृतपापों को बताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल में राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अतः उपरोक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे बहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नहीं मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नहीं हुई थी। यह समस्त कल्पनाएँ वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात् ही, पौराणिककाल में, इस देश में फैली हैं। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर अल्पज्ञ जीव

की कोटि में रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जनसाधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझने लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते हैं। इन वादों से इस देश को जो हानि पहुँची उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

——:०:——

मूर्तिपूजा तथा महाभारतकाल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष से कुछ ऊपर अङ्कित किया जाता है। यह काल रामायणकाल से बहुत पीछे का है। रामायणकाल में आर्य लोग वैदिक मर्यादा का पालन करते थे किन्तु महाभारत के समय में उनकी खुले रूप में अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। तप और त्याग का स्थान भोग विलास लेते जा रहे थे। द्यूतादि दुष्कृत्य पाप नहीं समझे जाते थे। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर राजसभा में खुले रूप से जुआ खेलते थे। इस प्रकार वह जाति जो किसी समय संसार को धर्म का पाठ पढ़ाती थी बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर अग्रसर हो चली थी।

रामायण की भांति महाभारत में भी प्रक्षिप्त भाग की कमी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान महाभारत ग्रन्थ, उस ग्रन्थ से जिसकी रचना महर्षि वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने की थी, कई गुना बढ़ गया है, तो अत्युक्ति न होगी।

महाभारत की इस समय श्लोक संख्या ९५४२६ है। परन्तु स्वयं महाभारत की साक्षी से सिद्ध होता है कि व्यास जी ने केवल चौबीस हज़ार (२४०००) श्लोकों की रचना की है :—

चतुर्विंशतिं साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
उपाख्यानैर्विनातावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥आदि १।१०१॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोकयुक्त) भारत संहिता बनाई थी। उपाख्यानों के बिना इतने को ज्ञानी लोग 'भारत' कहते हैं। इसके विपरीत एक दूसरा श्लोक देकर कुछ लोग श्लोक संख्या केवल ८८०० सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं :—

अष्टौश्लोक सहस्राणि अष्टौश्लोक शतानि च।
अहं वेद्मिशुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा॥आदि १।८१॥

आठ सहस्र आठ सौ श्लोकों को मैं जानता हूँ, शुक जानता है, सञ्जय न जाने जानता है या नहीं जानता।

यह श्लोक संख्या इतनी किस प्रकार बढ़ गई, इसका भी स्वयं महाभारत ग्रन्थ से ही बहुत कुछ पता लग जाता है। सूत लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते हैं कि, "एकंशतसहस्रन्तु मयोतां वै निबोधत।" (आदि १।१०७) "एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो।" इससे यह सिद्ध होता है कि किसी समय यह श्लोक संख्या एक लाख से भी कहीं अधिक पहुँच चुकी थी।

स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में एक अन्य साक्षी अपने सत्यार्थप्रकाश में राजा भोज लिखित संजीवनी इतिहास के आधार पर दी है, जिसमें लिखा बताया जाता है कि "व्यास जी ने ४४४० और उनके शिष्यों ने ५६०० अर्थात् सब १०००० के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं, मेरे पिता के समय में २५ सहस्र, अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है," इत्यादि।

एक अन्य प्रमाण इस विषय में गरुड़पुराण का भी उपलब्ध है, जिससे भारत की श्लोक संख्या केवल छः हजार प्रमाणित होती है :—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृतेयुगे भारते षट्सहस्रयाम् ।
निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यं ॥

कृतयुग में सारे दैत्य ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न होकर छः हज़ार श्लोक वाले भारत ग्रन्थ में कुछ अंश निकाल कर नये बनें अंशों का निवेशप्रक्षेप नित्य करते रहते हैं। ('कृतेयुगे' के स्थान पर 'कलौयुगे' पाठ, अर्थ की दृष्टि से संगत होगा—लेखक)।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महाभारत जिसका कि सबसे पूर्व नाम 'जय', फिर 'भारत' और अन्त में कदाचित् श्लोक वृद्धि के कारण 'महाभारत' पड़ गया—में इतने क्षेपक हैं कि मूल ग्रन्थ वास्तव में कितना है ? यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन होजाता है। जो बात महाभारत के सम्बन्ध में सत्य है, ठीक वही बात गीता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता महाभारत का ही एक भाग है। शंकर स्वामी के भाष्य से पूर्व उसका कोई अन्य भाष्य प्राप्त नहीं होता। जिससे यह प्रमाणित होता है कि उससे पूर्व गीता का महाभारत से पृथक कोई अस्तित्व एक ग्रंथ के रूप में नहीं था। श्रीकृष्ण का गीता के रूप में इतना विस्तृत एवं विषयान्तर उपदेश भी ठीक युद्ध के समय न सम्भव है और न युक्तियुक्त। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करके अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करना पर्याप्त था, जो गीता के द्वितीय अध्याय से ही सिद्ध हो जाता है। अतः हमारा विश्वास है कि गीता में भी प्रक्षिप्त भागों की कमी नहीं है।

इस विषय में हम अधिक विस्तार में नहीं जाना चाहते; क्योंकि यह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इससे हमारा उद्देश्य केवल यह सिद्ध करना है कि इतना अधिक प्रक्षिप्तांश होने पर भी महाभारत एवं गीता दोनों में ही मूर्तिपूजा के समर्थन

में एक भी श्लोक नहीं है। हाँ! मूर्तिपूजा के खंडन में एक स्पष्ट श्लोक महाभारत में मिलता है :--

मृच्छिला धातुदार्वादि मूर्तावीश्वर बुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढ़ाः परांशान्तिं न यांति ते॥

मूर्ख लोग मिट्टी, पाषाण, धातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी भी शांति प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'भारतमीमांसा' ग्रन्थ में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया है। उनका भी यही मत है कि महाभारत काल तक इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी। हम उसे उन ही के शब्दों में पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं: -

(महाभारत में) स्पष्ट देख पड़ता है कि प्रत्येक आर्य ब्राह्मण क्षत्रिय, और वैश्य प्रति दिन संध्या एवं यज्ञ किया करते थे। कम से कम भारतीय योद्धाओं के वर्णन में इस बात की कहीं कमी नहीं है। जिस तरह यह नहीं देख पड़ता कि कहीं समय पर संध्या करना राम और लक्ष्मण भूल गये हों, उसी तरह समझौते के लिये जाते हुए श्री कृष्ण का जो वर्णन महाभारत में है, उसमें प्रातः सायं संध्या करने का वर्णन करने में भी कवि ने भूल नहीं की:—

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान्सर्वान्हिकम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञाता प्रययौ नगरं प्रति॥

(महा० उद्योग पर्व अ० १३)

संध्या में मुख्य भाग था उपस्थान करना जो वैदिक मंत्रों से किया जाता है। लिखा है कि भारतीय युद्ध के समय समस्त

क्षत्रिय प्रातः स्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रण भूमि पर सन्नद्ध होते थे। रात को एक ही दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकों ने युद्ध भूमि में ही आराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रातः काल होने से पहिले ही युद्ध छिड़ गया, तब सूर्य निकला। उस समय समस्त सैन्य में युद्ध रुक गया और सभी क्षत्रियों ने रणाङ्गण में ही संध्या अर्थात् सूर्य उपस्थान किया। इससे देख पड़ता है कि भारत काल में संध्या और सूर्य के उपस्थान का कितना माहात्म्य था। (द्रोण पर्व अ० १८६) "पूर्व में अरुण के द्वारा ताम्रवर्णांकित रवि मंडल सोने के चक्र की भाँति दिखाई देने लगा; तब उस संध्या समय में कौरव और पाण्डव दोनों ओर के योद्धा अपने-अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारियां छोड़-छोड़ कर सूर्य की ओर मुँह करके, हाथ जोड़ कर जप करने लगे" इत्यादि।

"दूसरा कर्तव्य था अग्नि में आहुति देना। यह बात निश्चय पूर्वक सिद्ध है कि प्रत्येक आर्य वर्ण वाला मनुष्य अपने घर में अग्नि स्थापित रखता था। द्रोण पर्व के ८२ वें अध्याय में युधिष्ठिर का जो वर्णन किया है, उसे हम पहिले दिखला चुके हैं। युधिष्ठिर प्रातः उठ कर स्नान करके संध्या और फिर यज्ञशाला में जाकर अग्नि में आज्याहुति के साथ समिधा, वैदिक मंत्र पढ़ कर यज्ञ करने को नहीं भूले।

समिद्भिश्च पवित्राभि रग्निमाहुति भिस्तदा।
मंत्र पूताभिरर्चित्वा निश्चक्राम ततो गृहात ॥

"इसी तरह उद्योग पर्व के ८ वें अध्याय में जब श्री कृष्ण हस्तिनापुर को जाने के लिये चले, तब का वर्णन है।:—

कृत्वा पौर्वान्हिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपस्तथे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ॥

लिखा है कि श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर ने संध्या एवं होम करके ब्राह्मणों को दान दिया इत्यादि-इत्यादि (पृ० ४४७-४४८) मूर्तिपूजा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, वह लिखते हैं:—

यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कहीं मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्ठिर की आह्निक क्रियाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, तथापि उसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नहीं है। उस समय यदि लोगों की आह्निक क्रिया में देवताओं की पूजा का समावेश हुआ रहता, तो उस विषय का उल्लेख इस वर्णन में अवश्य आया होता। इससे निश्चय पूर्वक अनुमान होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महाभारत काल पर्यन्त आर्यों के आह्निक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घर में देवता की मूर्ति रख कर उसकी पूजा शुरू नहीं हुई थी। भिन्न-भिन्न गृह-सूत्रों में भी देवताओं की पूजा की विधि नहीं बतलाई गई है। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवताओं की पूजा की विधि महाभारत काल के पश्चात् अनेक वर्षों में उत्पन्न हुई है।" (पृ० ४४८-४४६) आगे वह पुनः लिखते हैं:—"परन्तु महाभारत में मंदिरों और मंदिरों में स्थित मूर्तियों का वर्णन बहुत मिलता है। यह बात सच है कि मूल वैदिक धर्म में मंदिरों अथवा मूर्तियों का माहात्म्य न था और न लोगों के नित्य के धार्मिक कृत्य में मूर्ति का समावेश था। महाभारत में सौति ने जो नवीन अध्याय जोड़े हैं, उन में मूर्तियों और मन्दिरों का वर्णन है" (पृ० ४४६) "यद्यपि मन्दिर और मूर्तियां रही हों तथापि आर्यों के आह्निक धर्म कृत्य में अब तक देवताओं की पूजा न थी—यह बात महाभारत से और गृह-

सूत्रों से भी निश्चित देख पड़ती है।"(पृ० ४५० पंक्ति १७-२१)

अंत में इस विषय पर उपसंहार करते हुए वह लिखते हैं:—

"यहां तक जो विवेचन किया गया है, उसका सारांश यह है कि भारतीय युद्ध काल में भारतीय आर्यों का धर्म केवल वेद विहित था, तो महाभारत काल में इस धर्म में वैदिक देवता, ओं के सिवा और भी कुछ देवता समाविष्ट हो गये; और वैदिक देवताओं में भी इन्द्र पीछे पड़ गये और शिव और विष्णु की मूर्ति पूर्णतयां स्थापित हो गईं। भारतीय युद्ध से लेकर महाभारत काल पर्यन्त जो ढ़ाई तीन हज़ार वर्ष बीते, उतनी अवधि में भारतीय धर्म का रूपान्तर हो जाना अपरिहार्य था (यहां ग्रन्थ-कार का भारतीय युद्ध काल से अभिप्राय उस समय से है जब यह युद्ध हुआ और 'महाभारत काल' से भारतीय युद्ध के ढ़ाई तीन हज़ार वर्ष पश्चात का समय है जब युद्ध के वर्णन में पीछे से अनेक भाग जोड़े जाकर इस ग्रन्थ ने वर्तमान 'महाभारत' का रूप धारण कर लिया—लेखक) "वैदिक काल में ईश-भक्ति की विशेष क्रिया संध्या और यज्ञ थे। वेदाध्ययन और यजन तीनों वर्णों में जीवित और जागृत थे, परन्तु भारतीय काल में आर्यों और अनार्यों के समाज में एवं धर्म में पूर्णतया मिश्रण होकर जो धर्म स्थिर हुआ, उसमें यद्यपि ब्राह्मणों में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र बने रहे थे, तथापि अन्य वर्णों में शिव, विष्णु, स्कंद और दुर्गा की पूजा प्रचलित होगई। इसके अतिरिक्त इसी समय इन देवताओं की प्रतिमाएं और इनके लिये मन्दिर बने। अज्ञ लोगों में निरे भूत पिशाचों की ही भक्ति, स्कंद के साथ अस्तित्व में आगई थी और यह भी प्रकट है कि बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध किया गया है" (पृष्ठ ४५५) विद्वान लेखक के उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है

कि महाभारत युद्ध के पश्चात् ढाई तीन हज़ार वर्षों के अन्तर्गत इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ। बौद्धों के स्तूपों की पूजा का निषेध भी यह सिद्ध करता है कि महाभारत ग्रन्थ में यह सम्मिश्रण बौद्धकाल में हुआ है जबकि उनके स्तूपों की पूजा यहाँ प्रचलित हो चुकी थी।

कवियों की अलंकृत रचना की भांति चित्र अथवा मूर्तिकारों की अलंकारयुक्त रचनाएं कला की दृष्टि से स्तुत्य हीं हैं। प्राचीन काल की सरस्वती, लक्ष्मी तथा महाकाली (मृत्यु) की मूर्तियां कलाकार की अलंकृत रचनाएं ही हैं। वर्तमान समय में भारत माता के चित्र की कल्पना भी ऐसी ही वस्तु है। पत्रपत्रिकाओं में नित्य प्रकाशित होने वाले व्यङ्ग-चित्र क्या हैं ? कलाकार की कल्पना का ही तो परिणाम हैं। न इसमें कोई दोष है और न हानि। पाश्चात्य देशों में अनेक महापुरुषों की स्थान-स्थान पर मूर्तियां स्थापित हैं किन्तु इससे उन्हें कोई मूर्तिपूजक नहीं समझता। हानि तो उस समय प्रारम्भ होती है, जब हम उनमें चेतन सत्ता मानकर, चेतन की भांति उनकी पूजा करने लगते हैं अथवा देवता वा ईश्वर समझकर उसकी स्तुति प्रार्थना द्वारा उसे आत्मोन्नति का साधन मान बैठते हैं। सम्भव है कि कला अथवा वीर पूजा की दृष्टि से उस समय भवनों अथवा मंदिरों में यह मूर्तियां रखी जाती हों; किन्तु इतने मात्र से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं की जा सकती, जब तक कि यह स्पष्ट उल्लेख न हो कि उन मंदिरों में जाकर लोग उनकी आराधना तथा पूजा प्रार्थना करते थे।

महाभारत में परमात्मा को अशरीरी और निराकार लिखकर अवतारवाद का भी खंडन निम्न श्लोकों से स्पष्ट है:—

मनीषी मनसा विप्रः दृश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१५॥

नह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥१६॥
अशब्दस्पर्शरूपं तद्रसागन्धमव्ययम् ।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥१७॥
शान्ति पर्व अ० २३६

हे विप्र ! मनीषी अपनी आत्मा में ही आत्मा को देखता है। यह आत्मा न आँखों से देखने योग्य है और न सारी इन्द्रियों से। मन रूप प्रदीप से यह देखा जा सकता है ।१६। वह परमात्मा शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध से रहित, अव्यय है और शरीर में व्याप्त भी है। उस अशरीरी और निरिन्द्रिय को देखें ।१७।

श्री मद्भग्वद् गीता में स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र, तप, योग, स्वाध्याय आदि का ही वर्णन है, मूर्तिपूजा आदि जड़ उपासना का नहीं:—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दान क्रियाश्चविविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

इसलिये ओंकार का उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप, यह क्रियाएं वैदिक लोगों में निरंतर विधिपूर्वक होती रहती हैं ।२४। हे अर्जुन ! मोक्ष की इच्छा वाले, फल की इच्छा न करके यज्ञ, तप की क्रिया और दान की नाना प्रकार की क्रियाएं 'तत् सत्' शब्द उच्चारण करके करते हैं ।२५। यज्ञ से अभिप्राय अग्निहोत्र से ही है. यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है:—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ ! अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दान दिया हुआ, तप किया हुआ और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है, उसको 'असत्' कहते हैं। वह कर्म न परलोक में और न इस लोक में फलदायक होता है।

पुनः कृष्ण ने यज्ञादि को नित्य तथा सर्वकाल में करने योग्य कर्तव्य कर्म ठहराया है इनको ही मनुष्य को पवित्र करने वाला बताया है:—

यज्ञः दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदानंतपश्चैव पावनानि मनीषणाम् ॥५॥ अ० १८।

यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। इन्हें करना ही चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान तथा तप यह मनुष्यों को पवित्र करते हैं।

अंत में ईश्वर प्राप्ति का प्रकार वर्णन करते हुए श्री कृष्ण, अर्जुन से कहते हैं—

सिद्धिप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेननैव कौन्तेयनिष्ठाज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्धयाविशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यकत्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यत्वाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

हे अर्जुन ! शुद्ध अंतःकरण वाला पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसको सुन और ज्ञान की जो सब से बड़ी निष्ठा है, उसको भी संक्षेप से सुन।५०। शुद्ध बुद्धि से युक्त, आत्मिक बल द्वारा मन को रोक कर शब्द स्पर्शादि विषयों को छोड़ कर और राग द्वेष को त्याग कर रुप ब्रह्म को प्राप्त होता है।५१।

जो एकान्तसेवी, परमित भोजन करने वाला और जिसने शरीर वाणी और मन को जीत लिया है और सदैव ईश्वर विषयक चित्त-वृत्ति-निरोधरूपी समाधि में लगा हुआ वैराग्य को आश्रय किये हुए है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है ।५२।

'सिद्धि प्राप्तो' इत्यादि पचासवें श्लोक का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य इस युक्ति का खंडन करते हुए, जो कि प्रायः मूर्ति पूजा के पक्ष में प्रस्तुत की जाती है कि निराकार परमात्मा को बुद्धि ग्रहण ही नहीं कर सकती अतः मूर्ति की आवश्यकता है, लिखते हैं—

"केचित्तु पण्डितम्मन्या निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिरतो दुःसाध्यसम्यग् ज्ञाननिष्ठेत्याहुः। सत्यमेवं गुरु सम्प्रदायरहितानाम्, अश्रुतवेदान्तानाम्, अत्यन्त बाहिर्विषया-सक्त बुद्धिनाम्, सम्यक् प्रमाणेष्वकृत श्रमाणाम्" ।।

कोई पंडिताभिमानी लोग कहते हैं कि परमात्मा के निराकार होने से मनुष्य की बुद्धि उसको ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिये परमात्मा का ज्ञान दुःसाध्य है। ठीक है। जो लोग गुरु परम्परा से रहित हैं, जिन्होंने कभी वेदान्त नहीं सुना, वाह्य विषयों में जिनकी बुद्धि लगी हुई है, जिन्होंने न्यायादि प्रमाणों में कुछ भी श्रम नहीं किया वे, ऐसा ही कहा करते हैं।

श्री कृष्ण परमात्मा नहीं थे और न उसका अवतार थे, इसका गीता में वह स्वयं खंडन करते हैं:—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परत्तप ।।५।। अ० ४।

हे अर्जुन ! मेरे तेरे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं। मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ किन्तु हे परंतप ! तू उनको नहीं जानता।

कितना स्पष्ट प्रमाण है जो भगवान् कृष्ण को बार-बार जन्म मरण के बंधन में आने वाला 'जीव' सिद्ध करता है। ज्ञानी होने के कारण श्री कृष्ण इस तत्व को कि जीव अनादि है और सदा जन्म मरण के बंधन में आता रहता है, जानते थे। अथवा यों कहिये कि वह योगी थे और उनको पूर्व जन्मों का ज्ञान था, अर्जुन को नहीं था। किन्तु वह निश्चयपूर्वक थे जीव, ईश्वर नहीं थे; अन्यथा बहुत जन्मों का यहाँ उल्लेख ही नहीं होता।

इस प्रकार महाभारत एवं गीता रचना काल तक मूर्तिपूजा का इस देश में प्रचलन नहीं था और न उसका यहाँ के निवासियों की पूजा-विधि में किसी भी रूप में सम्मिश्रण हो पाया था।

—:०:—

मूर्तिपूजा और पौराणिक काल

महाभारत युद्ध के पश्चात् इस देश का घोर पतन प्रारम्भ होगया। देश अनेक मांडलिक राज्यों में विभक्त होगया और धर्म के नाम पर सबही पापाचार किये जाने लगे। इसी काल में तंत्र ग्रन्थों की रचना हुई और सर्वत्र वाममार्ग प्रचिलत होगया। रामायण काल में जहां यज्ञ मांसादि पड़ने से विध्वंश हुए समझे जाते थे, उन्हीं यज्ञों में अब पशुबलि दी जाने लगी। अश्वमेध, गोमेध तथा नरमेध वैदिक यज्ञों में घोड़ा, गौ तथा मनुष्यों की बलि देकर "वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति" की लोकोक्ति घड़ली गई और उसकी आड़ में सभी प्रकार की हिंसा प्रचलित होगई। यह काल धार्मिक दृष्टि से इस देश के महान पतन का समय कहा जा सकता है। जिन राक्षसों को देश से निकालने के लिए राम ने घोर युद्ध किया था, उन्हीं राक्षसों का इस समय यहाँ साम्राज्य था। नरमुण्डों को गले में लटकाये मनुष्य की खोपड़ी का पात्र हाथ में लिए कपाली विचरते थे। श्मशान इन का निवासस्थान था तथा नरमांस इन का भोजन था। लोग इनको सिद्ध महात्मा समझ कर पूजा करते थे। परन्तु इस धार्मिक ह्रास काल में भी इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं हुई थी अपितु यज्ञों का ही अत्यन्त विकृत रूप में प्रचार था।

जैन और बौद्ध धर्म का जन्म इसी दुरवस्था की प्रतिक्रिया थी। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, इसी समय देश में विदेशि-

यों के आगमन तथा उनके सम्पर्क से मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ और धीरे धीरे वाममार्गीय हिंसायुक्त यज्ञों का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया।

भगवान् बुद्ध ने यज्ञों का निषेध किया और सदाचारपूर्ण जीवन पर विशेष बल दिया। बुद्ध की शिक्षाओं में मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था। परन्तु पीछे से विदेशियों के सम्पर्क से बौद्धों में भी मूर्तिपूजा प्रचलति होगई। बौद्ध धर्म भी अनेक सम्प्रदायों में विभाजित होगया और बौद्ध-काल का समस्त वैभव अस्तव्यस्त होने लगा।

इसी समय श्री शंकराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म की स्थापना का प्रयास किया, जिसके आधार विशेषतः उपनिषद्, वेदान्त-दर्शन तथा गीता थे और जो आज भी 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। शंकर स्वामी ने मूर्तिपूजा का खंडन करके बौद्ध धर्म के साथ उसे भी इस देश से निर्वासित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें इस में सफलता नहीं मिली। अपनी पुस्तक 'परापूजा' में उन्होंने मूर्तिपूजा की निम्न शब्दों में कड़ी आलोचना की है—

१—पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य वासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घंच, शुद्धस्याचमनं कुतः॥
२—सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः।
प्राणादि प्रेरकत्वेन जीवने हेतुरवे च॥

पुराणवाक्यम्—

३—अधमा प्रतिमा पूजा, स्तोत्रजाप्यं च मध्यमा,
उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मनः॥
४—तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठ पाषाण मृन्मये।
प्रतिमायां मनोयेषां ते नरा मूढ़चेतसः॥

५—पाषाणैरालयं बध्वा देवः पाषाण एव च ।
ब्रूहि पण्डित ! देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥

६—स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः ।
शिलामृतदारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥

७—निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निरालम्बस्योपवीतं च, रम्यस्याभरणं कुतः ॥

८—निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दपीकम् ॥

९—नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः ।
ताम्बूलं च विभो कुत्र नित्यानन्दस्य दक्षिणा ॥

१०—स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराञ्चनं विधिः ।
प्रदक्षिणाह्यनन्तस्य चाद्वितीयस्य का नतिः ॥

११—अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
इयमेव परापूजा शम्भोः सत्यपरायणः ॥

१२—देहो देवालय प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः ।
त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

१—पूर्ण का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ? स्वच्छ के लिए पाद्य और अर्घ कैसा ? और शुद्ध के लिए आचमन कैसा ?

२—परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है। प्राणों का प्रेरक और जीवन का हेतु है।

३—पुराणों का वाक्य है—प्रतिमा पूजा अधम है, स्तोत्रों का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओं की पूजा 'सोऽहम्' है।

४—तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं, वे मनुष्य मूढ़ अज्ञानी हैं।

५—पत्थरों से एक स्थान में बांध कर और देव को पाषाण बनाकर, अरे पण्डित ! कह तो सही, वह देवता कहां पर रहता है ?

६—अपने घर में खीर छोड़ कर, अरे दुर्मति ! भिक्षा मांगता फिरता है ! पत्थर, मिट्टी और लकड़ियों के चित्र में देवता बुद्धि रखता है !

७—अरे निर्मल का स्नान कैसा ? विश्वोदर के लिए वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? और रम्य के लिए आभूषण कैसे ?

८—निर्लेप के लिए गन्ध क्या ? निर्वसन के लिए पुष्प क्या ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी ? स्वप्रकाश के लिए दीपक दिखाना क्या ?

९—नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिए ताम्बूल कैसा ? और नित्यानन्द के लिए दक्षिणा का क्या काम ?

१०—स्वयं प्रकाश के लिए दीपक क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या करनी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ?

११—जो भीतर और बाहर परिपूर्ण है उसके लिये विसर्जन कराना क्या ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि—

१२—इस शरीर को देवालय बनाओ और सनातन जीव को देवता समझो, अज्ञानरूप निर्माल्य को तजो और 'सोऽहं' भाव से पूजा करो।

इसी भांति श्री शंकर स्वामी ने ईश्वर के साकारत्व का अपने भाष्यों में स्थान-स्थान पर खंडन किया है। वेदान्त भाष्य से कुछ उद्धरण हम यहाँ देते हैं:—

"नैकस्मिन्नसंभवात्" ।२।२।३३ (वेदान्त)

इस पर भाष्य करते हुए शंकर स्वामी कहते हैं—

"नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्ध धर्म समावेशः संभवति शीतोष्णवत्"।

"एक वस्तु में एक ही समय में दो विरोधी गुण सरदी गर्मी के समान नहीं रह सकते।"

भाव यह है कि इसी प्रकार साकारता और निराकारता दो विरोधी गुण एक साथ ब्रह्म में नहीं हो सकते।

न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्ग सर्वत्र हि ।३।२।११। (वेदान्त) पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

"तत्रोभयलिङ्ग श्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्ग भवे ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः। न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मणः उभय लिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येकं वस्तु स्वतएव रूपादि विशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्।······सर्वत्रहि ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादनपरेषु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्"।

(इस प्रश्न का कि उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप निराकार और साकार पाये जाते हैं, उत्तर शंकर स्वामी ने अपने इस भाष्य में दिया है) ब्रह्म के दो रूप नहीं हो सकते। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें दो विपरीत गुण साकारता और निराकारता रहें क्योंकि यह दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं।····· सब जगह ही ब्रह्म के रूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में ब्रह्म को शब्द, स्पर्श एवं रूप रहित और अव्यय, अविकारी ही कहा है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। वेदान्त सूत्र २।२।४०
"शरीरत्वे सति संसारिवद् भोगादि प्रसङ्गादीश्वरस्यापि अनीश्वरत्वं प्रसज्येत"

शरीर सहित – साकार होने पर, संसारी पुरुष के समान भोगादि के प्रसङ्ग से ईश्वर होने पर उसमें भी अनीश्वरत्व हो जायगा।

गणेश पूजा की आलोचना करते हुए शंकर स्वामी कहते हैं:—"भो गाणपत्य सत्यमुक्तं भवता गणपतेः सर्वोत्तमत्वं वनमथावलाद्र द्राद्यु त्पत्तिश्चेति भवद्भिः प्रतिपादितं, किलतद्-समञ्जसम् प्रतिभाति। कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः रुद्रगणैः सह लयोनुगस्य जगत् कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। किञ्च रुद्रसुत इतिलोके प्रसिद्धरस्ति, तस्य ब्रह्मणत्वं कल्पिते पित्रा-दिकारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारणं पर ब्रह्मैव "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्यात"।

शंकरदिग्विजय पृ० ८४

गणपति के पूजक! तुम्हारा यह कहना कि गणपति सबसे उत्तम है सत्य नहीं है। सगुण गणेश, गजमुख वाला जो रुद्र के गणों के साथ उत्पन्न और नष्ट होता है, वह जगत का कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है, यह लोक में प्रसिद्ध है। उसको ब्रह्म मानोगे तो वह पुत्र होने से रुद्रादिकों का कारण नहीं होगा। इसीलिये ब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है। 'वही सत्य रूप सृष्टि के पूर्व था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

शङ्कर भाष्य से ऐसे ही अन्य प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु ग्रंथ विस्तार भय से हम उन्हें यहां नहीं देते। परन्तु श्री शंकराचाय का मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रयत्न विफल रहा और बौद्ध-धर्म के पतन के साथ इस देश में अनेक प्रकार की मूतियों

की रचना होती ही गई जिन्हों ने बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की मूर्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया। अनेकानेक पुराणों की रचना भी इसी काल में की गई। वर्तमान हिन्दू-धर्म की मूर्तिपूजा आचार-विचार, पर्व, तीर्थ, जन्म-गत-वर्णव्यवस्था, सब ही की रूपरेखा इसी समय की गई। उसके तीन मुख्य सम्प्रदायों-शैव, शाक्त तथा वैष्णव, का जन्म भी इसी काल में हुआ। अठारह महा-पुराण इन ही तीन सम्प्रदायों के आधार भूत ग्रंथ हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय-प्रधान पुराणों ने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ महात्म्य को जितना महत्व दिया है, उतना शैव अथवा शाक्त-प्रधान पुराणों ने नहीं दिया।

पुराणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी विद्वानों ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। उन्होंने या तो इसका सर्वथा खंडन किया, या उसे अज्ञानी, मूर्ख अथवा निचली श्रेणी के लोगों की वस्तु बताकर ज्ञानियों के लिये उसका निषेध किया। मन्दिरों में पूजा कार्य ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया और यदि किसी ने लालच-वश स्वीकार कर लिया तो उसे जातिच्युत कर दिया गया। पुराणों से ऐसे ही कुछ प्रमाण हम नीचे देते हैं:—

प्राप्ते कलावहह दुष्टतरे च काले।
न त्वां भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते।
धूर्तैः पुराणचतुरैं हरिशकराणां,
सेवापराश्च वहितास्तव निर्मितानाम् ॥१२॥

देवी भागवत स्क० ५ अ० १६

इस घोर कलियुग में पुराणों के बनाने में धूर्त चतुर लोगों ने विष्णु शिव आदि की पूजा अपने पेट भरने के लिये चलाई।

नाम्बमयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरु कालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः,
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेद कृता हरन्त्यघं,
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त सेवया ॥१२॥

यस्यात्मबुद्धि कुणपे त्रिधातुके, स्वधी कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचित्, जनेष्वभिज्ञेषु स एवगोखरः ॥१३॥
श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ०८४

पानी वाले तीर्थ नहीं होते, मट्टी और पत्थरों की मूर्तियां देवता नहीं होती। वे बहुत काल में भी पवित्र नहीं करते। साधु महात्मा के दर्शन ही पवित्र करते हैं।१। अग्नि, सूर्य, चांद, तारे, भूमि, जल, आकाश, वायु, वाणी, मन आदि पदार्थों की उपासना से पाप दूर नहीं होता। इनकी पूजा परमात्मा से अलग करने वाली है। विद्वानों की थोड़ी सेवा भी पापों को हरती है।१२। वात, पित्त, कफ तीन मलों से बने हुए शरीर में जो आत्मबुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि, पृथिवी से बनी हुई मूर्तियों में जो पूज्यबुद्धि और पानी में तीर्थ बुद्धि कभी भी करता है, वह गोखर-गौओं का चारा ढोनेवाला गधा-है।१३।

इसी प्रकार कपिलदेव, जिनकी अवतारों में गणना है कहते हैं:—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मायाद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥२२
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोप्तन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥
श्रीमद्भागवत स्क० ३ अ० २६ ।

सर्वप्राणियों में जीवात्मा रूप से मैं व्याप्त रहता हूँ। जो मेरा निरादर करके मूर्ति का पूजन करते हैं, यह विडम्बना है। मैं सबकी देह में रहने वाला हूँ जो मनुष्य मुझे त्याग कर प्रतिमा का पूजन करते हैं, वे अपनी अज्ञानता से राख में हवन करते हैं। २२। हे जननि! ऊँचे नीचे पदार्थों से, कर्म से, पूजा से, मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ तथा जो प्राणियों का तिरस्कार करते हैं, उन पर मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ।

नह्यम्बमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्यपि कालेन विष्णु भक्ता क्षणादहो ॥४२॥
देवी भागवत स्कं ६ अ० ७

पानी के तीर्थ नहीं होते मिट्टी और पत्थरों के देवता नहीं होते, वे किसी काल में भी पवित्र नहीं करते।

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्म प्रत्ययकारणात् ॥
शिवपुराण दे० सं० ३६। २६

जल से पूर्ण तीर्थ और पत्थर तथा मिट्टी के देवताओं को योगिजन अपने आत्म विश्वास से नहीं मानते।

शिवपुराण में भिन्न-भिन्न धातुओं के भिन्न-भिन्न वर्णों में शिवलिङ्ग पूजने का विधान है। परन्तु इस समय देश में सर्वत्र पत्थर के ही लिङ्ग की पूजा प्रचलित है, जो शिवपुराण के अनुसार

केवल शूद्रों के लिये विहित है—"शिलालिङ्गं तु शूद्राणां महा-शुद्धिकरं शुभम् ॥" ४६ ॥ शि० पु० विद्ये० सं० १—१८। इससे भी सिद्ध है कि प्रचलित "शिवलिङ्ग" पूजा शूद्रों के लिये ही प्रचलित की गई थी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के मंत्री सुप्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य ने भी मूर्तिपूजा को थोड़ी बुद्धि वालों के लिये बताया है—

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सवत्र समदर्शिनः ॥१६॥

चाणक्यनीति अ० ४

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियों के हृदय में देवता है, थोड़ी बुद्धिवालों को मूर्ति और समदर्शियों के लिये सर्वत्र ही देवता है।

पुजारियों के लिये भी पुराणों में यत्रतत्र निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया गया है और उन्हें जाति से बहिष्कृत करने को कहा है। वाराह पुराण में, किन-किन ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन न कराया जाय, की गणना करते हुए 'देवलक' अर्थात् मन्दिर के पुजारी का भी नाम लिया है—

वृषली सूतिपोष्यश्च वृषलीपतिरेव च।
तथा देवलकश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति केतनम् ॥१४।७॥

वृषली (दुराचारणी) सूति (नवप्रसूता) वृषली का पति तथा मन्दिर के पुजारी श्राद्ध-भोजन में स्थान पाने योग्य नहीं हैं।

पद्मपुराण जो "वैष्णव पुराण है, विष्णु के अतिरिक्त अन्य देव मूर्तियों के दर्शन, स्पर्श, पूजा तथा उन पर चढ़ाये गये पदार्थ को सर्वथा त्यागने का बड़े कठोर शब्दों में निर्देश करता है :—

नान्यं देवं तु वीक्षेत ब्राह्मणो न च पूजयेत्।
नान्यं प्रसादं भुंजीत नान्यस्ययातं विशेत् ॥६३॥
इतरेषां तु देवानां निर्माल्यं गर्हितं भवेत्।
सकृदेव हि योऽश्नाति ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ॥६७॥
निर्माल्यं शङ्करादीनां स चण्डालो भवेद् ध्रुवम्।
कल्पकोटि सहस्राणि पच्यते नरकाग्निना ॥६८॥
निर्माल्यं भो द्विजश्रेष्ठाः रुद्रादीनां दिवौकसाम्।
रक्षोयक्ष पिशाचान्नं मद्यमांस समं स्मृतम् ॥६९॥

अर्थात् ब्राह्मण दूसरे देवता का न तो दर्शन करे और न उसे पूजे, न उसके प्रसाद को खाय, और न उसके मन्दिर में जाय। दूसरे देवताओं का निर्माल्य भी ग्रहण न करे। जो मूर्ख ब्राह्मण इस निर्माल्य को खाता है, वह मानो विष्टा खाता है। शङ्करादि के निर्माल्य को खाने वाला, निश्चय ही चाण्डाल होता है। वह नरकाग्नि में करोड़ों कल्प तक पड़ा रहता है। हे ब्राह्मणो! शिवादि देवताओं का निर्माल्य मद्य मांस के तुल्य है।

भविष्यपुराण की रचना अन्य पुराणों की अपेक्षा नवीनतम समझी जाती है। इसमें मुसलमानों के आक्रमण तथा अँगरेज़ों के आगमन तक का उल्लेख भविष्यवाणी के रूप में किया गया है, जो इस पुराण की नवीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इसी पुराण में एक अत्यन्त मनोरञ्जक कथा मिलती है, जिससे सिद्ध होता है कि आज से कुछ शताब्दि पूर्व तक ब्राह्मण मन्दिरों में पुजारी का कार्य करने को निन्दनीय समझते थे।

श्री कृष्ण के पुत्र साम्ब ने अपने पिता द्वारा दिये गये शाप से मुक्त होने के लिये नारद के आदेशानुसार सूर्य का एक बहुत बड़ा मंदिर निर्माण किया और उसमें सूर्य की मूर्ति की स्थापना

की। उसी कथा के एक आवश्यक अंश को 'भविष्य पुराण भाषा' से उसी के शब्दों में संक्षेपतः उद्धृत करते हैं—

साम्ब कहते हैं कि हे नारद जी, आपके अनुग्रह से सूर्य नारायण का मुझे प्रत्यक्ष दर्शन हुआ और उत्तम रूप भी पाया, परन्तु एक चिन्ता मुझे बहुत है कि इस मूर्ति का पूजन और रक्षा कौन करेगा यह आप मुझे बतावें जिससे मेरी चिन्ता निवृत होय यह सुन नारद जी ने कहा कि हे साम्ब ब्राह्मण तो कोई इस काम को स्वीकार न करेगा क्योंकि जो ब्राह्मण देव-धन से अपना निर्वाह करते हैं वे देवलक कहाते हैं और शूद्र की भाँति पंक्ति बाह्य होते हैं और देवधन और ब्राह्मण धन को लोभ से ग्रहण करते हैं वे नरक में पड़ते हैं और वहाँ उनको गृद्धों का उच्छिष्ट भोजन मिलता है इसलिये कोई ब्राह्मण देवता का पूजक नहीं बनना चाहता अब तुम सूर्यनारायण से ही पूछो कि जो उनका पूजन विधि से किया करे अथवा उग्रसेन राजा के पुरोहित से कहो जो कदाचित् इस काम को स्वीकार करे यह नारद जी का वाक्य सुन साम्ब उग्रसेन के पुरोहित गौरमुख के घर गये गौरमुख भी स्नान संध्या कर अपने घर में स्वस्थ बैठे थे साम्ब ने प्रणाम कर अपना अभिप्राय उन से प्रकट किया कि महाराज मैंने सूर्यनारायण का प्रसाद बनाया है उसमें पत्नी सहित सूर्यनारायण की प्रतिमा स्थापन करी है और अपने नाम से नगर बसाया है अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप इसको ग्रहण करें यह साम्ब का वचन सुन गौरमुख बोले कि हे साम्ब हम ब्राह्मण हैं और आप राजा हो जो यह प्रतिग्रह हम आप से ग्रहण करें तो ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाय और शूद्र के तुल्य देवलक बन जांय, जन्मांतर में राक्षस बनें और तुम को भी केवल पाप ही प्राप्त होय देवलक जिस पंक्ति में बैठ

भोजन करे वह पंक्ति अपवित्र हो जाती है और कृच्छ्चान्द्रायण किये बिना शुद्ध नहीं होती देवलक जिसके यज्ञोपवीत आदि संस्कार करे उसके पिता अधोगति को प्राप्त होते हैं और सब प्रतिग्रह तो ब्राह्मण ग्रहण करते हैं परन्तु देव प्रतिग्रह ब्राह्मण को कभी न लेना चाहिये इत्यादि" (भविष्य पुराण भाषा पूर्वार्द्ध १३३ अ०। नवलकिशोर प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ, जून सन् १८६१ ई०)

आज से लग भग ग्यारह सौ वर्ष पूर्व इतिहास प्रसिद्ध अरब यात्री अलबरुनी भी, जिसने इस देश में ३०-४० वर्ष रह कर अनेक संस्कृत ग्रंथों का अरबी अनुवाद किया है, हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है। उसने अपनी 'किताबुल-हिन्द' के ११ वें अध्याय में उस समय के समस्त सम्प्रदायों का विवरण दिया है। सब देवताओं की आकृति का सविस्तार वर्णन किया है और मूर्तिपूजा के सिद्धान्त पर स्वयं भी विचार किया है। उसका कहना है, कि "यह मूर्तिपूजा केवल हिन्दुस्तान के जन-साधारण तथा मूर्खों का धर्म है, अन्यथा शिक्षित हिन्दू ऐसा नहीं समझते।" (अलवरूनी का भारत)

इसी प्रकार 'भारत का धार्मिक इतिहास' के ग्रंथकार ने (Crawford's History of the Indian Archipelago, 1820 Vol. II and Journal of Indian Archipelago Vol. II, III, & IV) श्री क्रोफोर्ड के भारतीय द्वीप समूह के इतिहास से जो उद्धरण दिये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यवद्वीप में बौद्ध धर्म का प्राबल्य होने पर कुछ हिन्दू बालि द्वीप में ज़ा बसे। वे अब तक यथा-विधि हिन्दू धर्म का पालन करते हैं। "प्राचीन हिन्दुओं की भाँति वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चार वर्णों में विभक्त हैं।

अद्यापि वहाँ हिन्दू राजा राज करते हैं। ब्राह्मण निरामिष भोजी हैं। उनका यहीं की तरह सम्मान होता है।......... ब्राह्मण लोग मूर्तिपूजा नहीं करते।" इससे भी भली प्रकार सिद्ध होता है कि इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित होने पर भी ब्राह्मणादि विद्वान् लोग मूर्तिपूजा नहीं करते थे और उसे हेय समझते थे।

पुराणों में जहां मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का निरूपण है, वहां ऐसे भी स्थल हैं, जहां ईश्वर को स्पष्ट शब्दों में निराकार, सर्व-व्यापक और अजन्मा बताया है, जिससे मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद की आधार शिला ही हिल जाती है और इस साम्प्रदायिक झंझावात में भी प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों की कहीं-कहीं झलक दीख पड़ती है। पुराणों के ऐसे ही स्थलों से कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं—

निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेद्दृष्टिगोचरम्।
दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम्॥ ८

दे० भा० स्क० ३अ० ७

(ब्रह्मा बोले) हे मुने! निर्गुण का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। कारण कि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे हो सकता है?

एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
जन्म वृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः॥ २८
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः।
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव चोद्यते॥ ३०

विष्णु पु० अ० २ आ० १४

जन्म से रहित आत्मा, एक व्यापक, सम, शुद्ध, निर्गुण और प्रकृति से परे है। वृद्धि आदि से रहित, सर्वव्यापी और अव्यय है।२८।

हे राजन ! वह परं ज्ञानमय है, असत् नाम और जाति आदि से उस सर्वव्यापक का योग न कभी हुआ है, न है, और न होगा।

विष्णु पुराण में विष्णु शब्द की व्याख्या भी 'सर्वव्यापक' अर्थ में की गई है:—

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥४५॥
वि० पु० अं० ३ अ० १

यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा की ही शक्ति से व्याप्त है। अतः वह विष्णु कहलाता है। क्योंकि 'विश' धातु का अर्थ प्रवेश करना है।

न ह्यादिमध्यान्तमजस्य यस्य विद्मो वयं सर्वमयस्यधातुः।
न च स्वरूपं न परं स्वभावं न चैव सारं परमेश्वरस्य ॥८३
कलामुहर्त्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः।
अजन्मानाश्यस्य सदैकमूर्तेरनामरूपस्य सनातनस्य ॥८४
वि० पु० अंश ४ अ० १

जिस अजन्मा, सर्वमय, विधाता, परमेश्वर का आदि, मध्य, अतं, स्वरूप, स्वभाव और सार हम नहीं पाते ।८३। कला मुहूर्त्तादिमय काल भी जिसकी विभूति के परिणाम का कारण नहीं हो सकता, जिसका जन्म और मरण नहीं होता जो सनातन और सर्वदा एक रूप है तथा जो नाम रूप से रहित है। ८४।

परमात्मा इन आंखों से नहीं देखा जा सकता, स्वाध्याय तथा योग द्वारा ही उसके दर्शन होते हैं, इस विषय पर भी निम्न श्लोक बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते हैं और 'ईश्वर प्राप्ति का साधन मूर्तिपूजा नहीं है' का प्रतिपादन करते हैं:—

स्वाध्याययोगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।२
तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुयोर्गस्तथापरः ।
न मांस चक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते ।। ३

वि० पु० अं० ६ अ० ६

स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का आश्रय करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूप सम्पति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ब्रह्मस्वरूप परमात्मा को मांस-मय चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। उन्हें देखने के लिये स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र हैं।

न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिर्यो व्यक्तव्यक्तयोःपरः ।
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ।।८

श्रीमद्भा० स्कं० १२ अ० ५

योति स्वरूप परमात्मा व्यक्त पदार्थों से सूक्ष्म अव्यक्त है। वह आकाश की भांति । सर्वाधार, निर्विकार, अन्तहीन और उपमा रहित है।

अपाणिपाद जवनो गृहीता हृदिसंस्थितः।
अचक्षुरपि पश्यामि तथाकर्णः श्रणोम्यहम् ।।

कूर्म उपरिभाग अ० २ पृ० ४५६

मैं हृदय में स्थित रहने वाला, बिना पैरों के चलने और बिना हाथों ग्रहण करने के कार्य को करता हूँ। बिना आंखों के भी देखता और बिना कान के सुनता हूँ।

प्रधानपुरुषातीतं प्रलयोत्पत्तिवर्जितम् ।।२०।। लिङ्ग पु० अ० २

परमात्मा प्रकृति और जीव से ऊपर तथा उत्पत्ति और विनाश से रहित है।

आधि व्याधि जरामृत्यु शोकभीति विवर्जितम्।
ब्र० वै० पु० ब्र० खं० अ० २

परमेश्वर दुःख, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु शोक और भय से सर्वथा रहित है।

गन्ध वर्ण रसैर्हीनं शब्दस्पर्श विवर्जितम्।
अजातं ध्रुवमक्षय्यं नित्यं स्वात्मन्यवस्थितम् ॥१८
वायु पु० अ० ४

गन्ध, वर्ण, रस, शब्द और स्पर्श, रूप विषयों से रहित, अजन्मा, नित्य अविनाशी परमात्मा अपने ही आत्मा में स्थित है।

अचक्षुरपि यः पश्यतकर्णोऽपि शृणोति यः।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम् ॥८७
शिवपु० वायु सं० अ० ४

बिना आंखों के भी वह देखता है और बिना कानों के भी सुनता है। वह सबको जानता है, उस को पूर्ण रूप से जानने वाला कोई नहीं। उस को परम पुरुष परमात्मा कहा जाता है।

सर्वं तत्र सर्वत्र व्याप्य तिष्ठति शाश्वतः।
तथापि क्वापि केनापि व्यक्तमेष न दृश्यते ॥ ४६
नैवायं चक्षुषा ग्राह्यो नापरैरिन्द्रियैरपि।
मनसैव प्रदीप्तेन महानात्मावसीयते ॥ ७४
तिलेषु वा यथा तैलं दध्निर्वा सर्पिरर्पितम्।
यथापः स्रोतसि व्याप्तो यथारण्यांहुताशनः ॥ ७४
एवमेव महात्मानमात्मन्यात्म विलक्षणम्।
सत्येन तपसा चैव नित्ययुक्तोऽनुपश्यति ॥ ७५
शि० पु० वायु सं० अ० ४

वह सबमें सर्वत्र व्यापक होकर ठहरा हुआ है तो भी कहीं किसी से प्रकट रूप में नहीं देखा जाता। ४६। न वह आंखों से देखा जासकता है न अन्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जासकता है। प्रकाशित मन से ही वह महानात्मा प्राप्त किया जासकता है। ४७। जैसे तिलों में तेल और दही में घृत छुपा हुआ है, जैसे पानी स्रोत में तथा जैसे अरणी में अग्नि छुपा है। ७४। वैसे विलक्षण परमात्मा आत्मा में छिपा रहता है। उसको योगी सत्य और तप से नित्य अपने आत्मा में देखता है। ७५।

समस्त पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति की पूजा का ही विशेष रूप से वर्णन है। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय का पुराण अपने-अपने उपास्य देव को ही सर्वोपरि बताते हुए दूसरे सम्प्रदायों के उपास्यदेवों की निंदा करता है। वैष्णव पुराण विष्णु को महान और शेष ब्रह्मा, शिव तथा शक्ति को निकृष्ट सिद्ध करते हैं और उनके उपासकों को नरकगामी बताते हैं। इसी प्रकार शिव पुराण, शिव की महानता तथा अन्य देवों की निन्दा करता है। शाक्तों के पुराण देवी भागवत में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की बड़े ही कठोर शब्दों में आलोचना की गई है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयाइयों के प्रति निःसंकोच अपशब्दों का प्रयोग करता है। इतना ही नहीं, इन पुराणों में इन देवों के पारस्परिक तुमल युद्ध और जय, पराजय का भी वर्णन है। जिसका कुछ दिग्दर्शन हम पाठकों को आगे करायेंगे।

पौराणिक काल की उपरोक्त साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्वता से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि चाहे मूर्तिपूजा का आदिकारण कुछ भी रहा हो; किन्तु कालांतर में इसका विस्तार व्यवसायिक बुद्धि से हुआ और आज भी यही भावना, इसकी असारता और दोषों

को जानते हुए भी, इसके परित्याग में बाधक है। जिस प्रकार एक दुकानदार अपनी वस्तुओं को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे की वस्तुओं को निकृष्ठ बताकर ग्राहकों को अपनी दुकान पर खींचने का प्रयत्न करता है, ठीक यही दशा इन सम्प्रदायों की है। वे अपनी देवता, एवं तिलक छाप की प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा करके अपनी-अपनी दुकान जमाने का प्रयत्न करते हैं, अन्यथा यदि समस्त उपास्य देवों में एक ही ईश्वर की भावना होती तो इस प्रतिद्वन्दता का कोई कारण ही नहीं था। बहु देवतावाद का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम है। पौराणिक काल की यही व्यवसायपूर्ण साम्प्रदायिक स्पर्धा आर्यजाति के आंतरिक कलह का मुख्य कारण थी। उसी मनोवृत्ति का संक्षेप में हम यहाँ थोड़ा दिग्दर्शन करायेंगे।

विष्णु तथा विष्णु के अवतारों की प्रशंसा करते हुए पद्म-पुराण लिखता है—

राघवः सर्वदेवानां पालनः पुरुषोत्तमः ॥ ११५
स्पृष्टा दृष्टाश्च ते नैव विमलाः शंकरादयः ॥ ११६

पद्म पु० उत्त० खं० अ० २२५

सब देवों में पवित्र पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र हैं। जिनके स्पर्श और दर्शन से महादेवादि निर्मल होगए।

कस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना।
यस्यांशांशावतारेण विना सर्वं विलीयते॥ ३२७

प० पु० पाताल खं० ६७।

देवों के देव विष्णु की बराबरी कौन कर सकता है? जिसके अंशांश अवतार के बिना सब विलीन होजाते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादि दैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत् स पाषण्डी भवेत्सदा ॥६

प० पु० उत्तर खं० अ० २६३

जो विष्णु को ब्रह्मा और रुद्रादि देवों के समान समझता है, वह सदा पाखण्डी है।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणाः येऽप्यवैष्णवाः।
नस्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्या कदाचन ॥११

प० पु० उ० खं० अ० २६३

अधिक क्या कहें जो विष्णु के सिवाय किसी भी देवता को मानेगा, उससे बात करना, उससे छूना तथा उसको देखना पाप है।

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजस्तमोविमिश्रताः।
त्वं शुद्धसत्वगुणवान् पूजनीयोग्रजन्मनाम् ॥६०

ब्रह्मा और शिव रजोगुण और तम गुण युक्त हैं अतः ये पूजने योग्य नहीं हैं। हे विष्णु आप सतोगुण युक्त हो अतः आपही ब्राह्मणों द्वारा पूजे जाने योग्य हैं।

इतरेषां तु देवानामन्नं पुष्पं जलं तथा।
अस्पृश्यन्तु भवेत्सर्वं निर्माल्यं सुरया समम् ॥६३

अन्य देवताओं का अन्न, पुष्प और जल छूने योग्य भी नहीं है; किन्तु सारा चढ़ावा मदिरा के समान होता है।

इसी पुराण में शिवजी द्वारा ही उनकी निन्दा निम्न श्लोकों में कराई गई है—

देवतानां हितार्थाय वृत्तिः पाषण्डिनां शुभे।
कपालचर्मभस्मास्थि धारणां तत्कृतं मया ॥५३
ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवीतले।
सर्वधर्मैश्च रहिताः पश्यन्ति निरयं सदा ॥६०

(प० पु० उ० खं० अ० २६६
आनन्द आश्रम प्रेस पूना)

शिव जी कहते हैं—हे शुभ पार्वती देवों के हित के लिये कपाल, भस्म और अस्थि रखने वाली पाखण्डियों की वृत्ति मैंने धारण की है। जो मेरे मत को धारण कर पृथिवी पर आचरण करेंगे वे सारे धर्मों से भ्रष्ट होकर नरक को देखेंगे।

पुरा कदाचिद्योगीन्द्र विष्णुर्विषधरासनः।
सुष्वाप परया भूत्या स्वानुगैरपि सुवृत्तः ॥१
यदृच्छयागतस्तत्र ब्रह्मा ब्रह्म विदांवरः।
अपृच्छत् पुण्डरीकाक्षं शयानं सर्व सुन्दरम् ॥२
कस्त्वं पुरुषवच्छेषे दृष्टवानमामपि दृप्तवत्।
उतिष्ठ वत्स मां पश्य तव नाथमिहागतम् ॥३
आगतं गुरुमाराध्यं दृष्ट्वा यो दृप्तवच्चरेत।
द्रोहिणस्तस्य मूढ़स्य प्रायश्चितं विधीयते ॥४
इतिश्रुत्वा वचः क्रुद्धो बहिः शान्त वदाचरन्।
स्वस्ति ते स्वागतं वत्स तिष्ठ पीठमितो विश ॥५

ब्रह्मोवाच :—

किमुते व्यग्रवद्वक्तं विभाति विषमेक्षणम्।
वत्सविष्णो महामानमागतं काल वेगतः ॥६

विष्णुरुवाच :—

पितामहश्च जगतः पाता च तव वत्सक।
मत्स्थं जगदिदं वत्स मन्ये त्वं हि चोरवत् ॥७

नन्दिकेश्वर उवाच :—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरहं प्रभुः।
परस्परं हन्तु कामौ चक्रतुः समरोद्यमम् ॥८

शिवपुराण विद्य० खं० १ अ० ६

हे योगीन्द्र ! आगे एक समय विष्णु भगवान् शेष शय्या पर अपने गरुड़ आदि पार्षदों से संयुक्त लक्ष्मी सहित शयन करते थे। १।। उस समय ब्रह्मज्ञानियां में श्रेष्ठ ब्रह्मा जी अपनी इच्छा से ही वहाँ आये और सब प्रकार सुन्दर सेज पर शयन करते हुए कमल लोचन विष्णु जी से पूछने लगे। २।। तुम कौन हो जो मुझे देखकर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो ? हे वत्स ! उठो, देखो मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ। ३।। आये हुए गुरु को देखकर जो अभिमान करता है, उस द्रोही मूढ़ का प्रायश्चित होना उचित है। ४।। यह सुनकर विष्णु जी के अन्तर में तो क्रोध हुआ; परन्तु बाहर से शान्त रहे और बोले हे वत्स ! तुम्हारा मंगल हो, बैठो, इस आसन पर विराजो। ५।। इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख व्यग्र हो रहा है। ब्रह्मा जी बोले हे वत्स ! विष्णु ! तुमको समय के प्रभाव से अभिमान है। ६।। हे पुत्र ! मैं तुम्हारा रक्षक और जगत का पिता हूँ। विष्णु जी बोले, यह तो सब जगत मुझ में स्थित है तुम चोर के समान किस प्रकार अपना कहते हो। ७। मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं स्वामी हूँ ऐसा कहकर एक दूसरे को मारने की इच्छा से वे दोनों युद्ध करने को तैयार होगये। ८।

स्व-सम्प्रदाय के तिलक, कंठी आदि बाह्य चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्य सम्प्रदायों के चिह्नों की निन्दा भी इस साम्प्रदायिक संघर्ष का एक विशेष अङ्ग था। वैष्णव सम्प्रदाय के ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र चिह्नों की प्रशंसा एवं शैवों के भस्म धारण करने की निन्दा का नमूना नीचे देखिये :—

न तस्य किंचिदश्नीयादपि क्रतु सहस्रिणः।
सर्व वेदविदो वापि सर्वशास्त्र विशारदः ।।४२।।
अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मणः पतितो भवेत्।

ऊर्ध्वपुण्ड्र विहीनस्तु शङ्खचक्र विवर्जितः ॥४३॥
तं गर्दभे समारोप्य वहिः कुर्यात् स्वपत्तनात् ॥४४॥
पद्म पु० उ० । अ० २५३

जो हजार यज्ञ करे सम्पूर्ण वेद वा सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो तथापि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र, धारण नहीं करता, वह ब्राह्मण पतित हो जाता है। ऐसे लोगों को गधे पर चढ़ा कर नगर से बाहर निकाल देना चाहिये। आगे और देखिये:—

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्ध्व पुण्ड्र विवर्जितम्।
द्रष्टव्यं नैव तत् किंचित् श्मशान सदृशं भवेत् १२
ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु संध्याकर्मादिकं चरेत्।
तत् सर्वं राक्षसैनीतं नरकं चाधिगच्छति ॥१३

जिस मनुष्य के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो, उसको कभी भी नहीं देखना चाहिये। वह मस्तक श्मशान के सदृश है।१२। जो मनुष्य ऊर्ध्वपुण्ड्र के बिना संध्यादि करता है, वह नरक को जाता है।

ब्राह्मणः कलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥१६

यदि कुलीन ब्राह्मण माथे पर भस्म लगावे, तो उसका मदिरा से भरे घट के समान दर्शन न करे।

शिवपुराणादि शैव ग्रंथ, शिव की प्रशंसा से परिपूर्ण हैं किन्तु विष्णु, ब्रह्मा एवं शक्ति की उपासना तथा उनके बाह्य चिन्हों की भरपूर निन्दा करते हैं। शिव पुराण केवल शिव को ही ब्रह्म बताता है, शेष देवता अथवा अवतार उसकी दृष्टि में जीव मात्र हैं:—

शिवैको ब्रह्म रूपत्वान्निष्कलः परिकीर्तिः ॥ १०
निष्कलत्वान्निराकारं लिंगं तस्य समागतम् ॥ ११
अब्रह्मत्वात्तदन्येषां निष्कलत्वं नहिक्वचित् ॥ १३
ब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात्तथान्ये देवता गणाः ॥ १४
जीवत्वं शंकरान्येषां ब्रह्मत्वं शंकरस्य च ॥ १५
शिवान्येषां च जीवत्वात् सकलत्वाच्च सर्वतः ॥ २२
शि० पु० विद्ये० सं० अ० ५

शिव ही एक ब्रह्मरूप होने से निष्कल कहलाते हैं। १०। निष्कल होने से निराकार ही उसका स्वरूप और चिन्ह है। ११। शिव जी को छोड़कर और देवता ब्रह्म नहीं अतः वे निष्कल नहीं हो सकते। १३। दूसरे देवता ब्रह्म नहीं जीव हैं। १४। शंकर के अतिरिक्त औरों में जीवत्व और शंकर में ब्रह्मत्व है। १५। शिव से अन्य देवता जीवरूप होने से सब प्रकार कलायुक्त ही हैं (निष्कल नहीं)। २२।

शिव सामान्य वक्तारं शिव सामान्य दर्शिनं।
दृष्टवा स्नायात् सचैलं सन् शिव सामान्यसङ्गिनम् ॥ ७५

जो शिव के समान अन्य देवों को बतलाता है वा शिव समान देखता है, उसको देखकर कपड़ों सहित स्नान करना चाहिए।

महेशस्येव दासोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ॥ ५

यह बेचारा विष्णु, शिवजी का दास है।

इन्द्रोपेन्द्रादयः सर्वे महेशस्यैव किङ्कराः ॥ ६

इन्द्रादि सब देवता शिव के ही दास हैं।

तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते।
षष्टिवष सहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥ १७
लिङ्ग पु० उत्तर भाग। अ० ११

जो मनुष्य विष्णु, ब्रह्मादि को शिव के समान कहता है, वह ६० हज़ार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा बनेगा।

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवता।
स नृपः सह देशेन रौरवं नरकं व्रजेत॥ ३५
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च।
स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते॥ ३६

लिङ्ग पु० उत्तरभाग। अ० ११।

शिव लिङ्ग की पूजा छोड़कर जो अन्य देवताओं की पूजा करता है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक में जाता है। जो राजा शिव की भक्ति न करके अन्य देव की भक्ति करता है, वह उस युवति के समान है, जो अपने पति को छोड़ कर जार पुरुष के साथ भोग करती है।३६

शैव ग्रंथों में शिव द्वारा ब्रह्मा तथा विष्णु को युद्ध में पराजित करने का भी अनेक स्थानों पर वर्णन है। शिवाज्ञा से भैरव ने ब्रह्मा का पांचवां शिर काट लिया और शिव जी ने विष्णु-अवतार नरसिंह की जो दुर्दशा की, उसका वर्णन पुराणों के ही शब्दों में हम नीचे देते हैं:—

नन्दिकेश्वर उवाचः —

ससर्जाथ महादेवः पुरुषं कंचिदद्भुतम्।
भैरवाख्यं भ्रुवो मध्याद् ब्रह्मदर्पजिघांसया॥ १
सर्वे तदा तत्र पतिं प्रणम्य शिवमांगणे।
किं कार्यं करवाण्यत्र शीघ्रमाज्ञापय प्रभोः॥ २॥
वत्स योऽयं विधिः साक्षाज्जगतामाद्यदैवतम्।
नूनमर्च्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम्॥ ३॥

सवै गृहीत्वैककरेण केशं, तत्पंचमं दृप्तमसत्यभाषिणम् ।
छित्वा शिरोह्यस्य निहन्तुमुद्यतः प्रकम्पयन्खड्ग मतिस्फुटं करैः ।।४।।
पिता तवोत्सृष्ट विभूषणांबरस्रगुत्तरीयामलकेश संहितः ।
प्रबालरंभेव लतेव चंचलः पपात वै भैरव पाद पंकजे ।। ५

नन्दिकेश्वर बोले—तब महादेव जी ने ब्रह्माजी का मद दूर करने के लिए अपनी भृकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैरव की रचना की । १ । उत्पन्न होते ही समरांगण में उस पुरुष ने शिवजी को प्रणाम किया और कहा भगवन् ! मैं क्या करूँ ? शीघ्र आज्ञा दीजिए । २ । शिवजी ने कहा—हे वत्स ! यह जो जगत् के आदि देवता ब्रह्मा हैं, इनकी तीक्ष्ण धारवाले वेगवान खड्ग से पूजा करो अर्थात् प्रहार करो । ३ । यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़ कर ब्रह्माजी का पांचवां असत्यभाषी शिर काटते हुए खड्ग से उनके और भी शिर काटने की इच्छा की । ४ । तब तुम्हारे पिता ब्रह्माजी आभूषण, माला और उत्तरीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए, वायुवेग से केला और लता के समान कम्पित, भैरव के चरणों में गिर पड़े । ५ ।

सहस्र बाहुर्जटिलश्चन्द्रार्द्ध कृत शेखरः ।
समृद्धोऽग्रशरीरेण पद्भ्यांचञ्चुना द्विजः ।। ८ ।।
अति तीक्ष्णो महादंष्ट्रो वज्रतुल्यनखायुधः ।
कण्ठे कालो महाबाहुश्चतुष्पाद् वह्निसन्निभः ।।९।।
हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्ट बलविक्रमः ।
बिभ्रद्धाम सहस्रांशोरधः खद्योत विभ्रमम् ।। १२ ।।
अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादान् विदारयन् ।
पादान्बबन्धे पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम् ।। १३ ।।
भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम् ।
ततो जगाम गगनं देवैस्सह महर्षिभिः । १४ ।।

उड्डीयोड्डीय भगवान पक्षघात विमोहितम्।
हरि हरस्तं वृषभं विवेशानन्त ईश्वरः ॥ १६ ॥

सहस्रों भुजाधारी, जटा रक्खे, अर्ध चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये, भयंकर शरीर से युक्त पंखों तथा चोंच से शोभायमान। ८। अति तीक्ष्ण दाढ़ों वाले, वज्र के समान नख रूप शस्त्र धारे, कंठ में काल, दीर्घ भुजा वाले चार चरण सहित अग्नि के समान शंकर नृसिंह के सामने प्रकट हुए। ६। उनके दर्शन मात्र से नृसिंह का बल पराक्रम नष्ट हो गया, जैसे सूर्य के तेज से जुगनू का तेज नष्ट हो जाता है। १२। तब अपने पक्षों को घुमाकर नाभि और चरणों को विदीर्ण करते हुए, तथा पूंछ से पैरों को, और दोनों भुजाओं से नृसिंह की भुजाओं को बांधा। १३। भुजाओं से हृदय को भेदन करते हुए शिव ने उन नृसिंहरूपधारी विष्णु को ग्रहण किया और देवता-महर्षियों के देखते-देखते आकाश को चले गये। १४। उड़-उड़ कर भगवान् शिव ने पक्षों से विष्णु को व्याकुल कर दिया, तब विष्णु बल के नीचे छुप गये। १६।

यह सम्प्रदाय भी, शैव चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्यों की निन्दा में दूसरे सम्प्रदायों से पीछे नहीं है। इसकी दृष्टि में जो लोग भस्म, त्रिपुण्ड तथा रुद्राक्ष धारण नहीं करते, वे पातकी हैं :—

उद्धूलनं त्रिपुण्डं च श्रद्धया नाचरन्ति ये।
तेषां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥ १३ ॥
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रीयनिर्णयः ॥ १६ ॥

दे० भा० स्कं० ५ अ० ६।

जो भस्म और त्रिपुण्ड को श्रद्धा से धारण नहीं करते, उनका वर्णाश्रम युक्त आचरण नहीं है। १३। वे महापातकी हैं यह शास्त्रीय निर्णय है। १६।

नाश्नीयाज्जलमन्नमल्पमपि वा भस्माद्दधृत्या विना ।
भुक्त्वा वाथ गृही वनी यतिमती वर्णी तथा संकरः ।
एनोभुङ् नरकं प्रयाति ॥ ४३ ॥
धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्रामं शिवालयम् ।
धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवाश्रयाम् ॥ ४५ ॥
ते वै संकर सूकरासुरखरश्वकोष्ट कीटोपमाः ।
जाता एव भवन्ति पापपरमास्ते नारकाः केवलम् ॥ ४७ ॥
दे० भा० ५-६

जो भस्म और रुद्राक्ष धारण नहीं करते उनका थोड़ा भी अन्नजल ग्रहण न करे। गृहस्थी, वनी, यति, वर्णी अथवा संकर जाति, इनके यहां का भोजन करके पाप खाने वाला होता है और नरक को जाता है। ४३। भस्म रहित मस्तक, शिवालय रहित ग्राम, ईश के अर्चन रहित जन्म, शिवाश्रयहीन विद्या को धिक्कार है। ४५। जो तीनों जगत के आधार शंकर की निन्दा करता है और जो त्रिपुण्ड धारण करने वाले की निन्दा करते हैं उनके दर्शन में दोष है। ४६। वे निश्चय ही वर्णसंकर, शूकर, असुर, खर, श्वान, गीदड़, कीट के समान हैं। वे पापरूप उत्पन्न हुए हैं। केवल नरक में ही जाने को जन्म लिया है।

देवी भागवत शाक्तों का एक मात्र पुराण है। इसने विष्णु, तथा विष्णु-अवतार राम, कृष्णादि की निन्दा करने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ी। सब को ही जी भर कर नीचा दिखाया है। अवतारों को पिछले दुष्कर्म तथा शापों का परिणाम बताया है। शिव और ब्रह्मा की निन्दा तथा निकृष्टता का भी स्थान स्थान पर वर्णन है।

देवी भागवत में एक कथा आती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवी के दर्शन करने गये। देवी ने तीनों का स्त्री

बना दिया। ब्रह्मा कहते हैं कि हे नारद! मैंने जो वहां देखा सुनोः—

शृणु नारद सं वदयामि यद्दृष्टं तत्रचाद्भुतम्।
नख दर्पण मध्ये वै देव्याश्चरण पंकजे॥ १४॥
ब्रह्माण्डमखिलं सर्वं तत्र स्थावर जंगमम्।
अहं विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रविः॥१५॥
वरुणः शीतगुस्त्वष्टा कुवेरः पाकशासनः।
पर्वताः सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥ १६॥
वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलासः पर्वतोत्तमः।
सर्वं तदखिलं दृष्टं नखमध्यस्थितं च नः॥१६॥
मज्जन्म पंकजं तत्र स्थितोऽहं चतुराननः।
शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ॥ २०॥
विष्णुश्च विस्मयाविष्टः शंकरश्च तथा स्थितः।
तां तदा मेनिरे देवीं वयं विश्वस्य मातरम्॥ २२॥

दे० भा० स्कं ३ अ० ४ (वैङ्कटेश्वर प्रेस वम्बई)

देवी के चरण कमल के नख के मध्य में सब स्थावर जंगम ब्रह्माण्ड तथा विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुवेर, पर्वत, सागर, नदी, गंधर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, पर्वतों में उत्तम कैलाश, यह सब वस्तु हमने स्थित देखीं। (१४, १५, १६, १६) और कमल के मध्य से अपना जन्म तथा कमल पर अपने को स्थित देखा। शेषशायी जगन्नाथ और मधुकैटभ को देखा। २०। विष्णु और शंकर भी आश्चर्य में मग्न हुए। तब हम सबने विश्व की माता को पहचाना। २२

तदनन्तर अत्यन्त नम्र तथा दीन भाव से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा देवी की स्तुति का विस्तृत वर्णन है जिसे

विस्तार भय से हम यहां उद्धृत नहीं करते।

विष्णु के अनेक अवतारों का कारण भृगु ऋषि का शाप बताते हुए देवी भागवत में विष्णु को अत्यन्त अपमानित करने का प्रयत्न किया गया है। इन्द्र के कहने पर विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से भृगु की पत्नी का शिर काट लिया। उसके मरने पर दुःखी हो कर भृगु ने जो शाप दिया, वह निम्नांकित है:—

अकृतं ते कृतं विष्णु जानन् पापं महामते।
वधोऽयं विप्रजाताया मनसा कर्त्तुमक्षमः ॥२॥
तामसस्त्वं कथं जातः कृतं कमातिनिन्दितम्।
अवध्या स्त्री त्वया विष्णो हता कस्मान्निरागसा ॥४॥
शपामि त्वां दुराचारं किमन्यत्प्रकरोमि ते।
वधुरो ऽहं कृतः पाप त्वयाऽयं शक्रकारणात् ॥५॥
न शपे ऽहं तथा शक्रं शपे त्वां मधुसूदन।
सदा छल परोऽसि त्वं कीटयोनिदुराशयः ॥६॥
ये च त्वां सात्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनयः किल।
तामसस्त्वं दुराचारः प्रत्यक्षं मे जनार्दन ॥७॥
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छाप संभवाः।
प्रायो गर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन ॥८

दे० भा० स्कं० ४। अ० १२

हे मधुसूदन ! तुम ने अत्यंत बुद्धिमान् होकर भी जान कर ऐसा अकार्य किया। जिस विप्र कन्या का वध मन से भी नहीं विचारा जा सकता उसको तुमने साक्षात् कर डाला।२। हे विष्णु ! तुमने किस लिये तमोगुण-युक्त हो कर अतिनिन्दित कर्म किया ? स्त्री जाति अवध्य है। तुमने बिना अपराध इस अबला को क्यों मारा ? ।४। तुम्हारा यह आचरण अत्यन्त

निन्दित है। इस समय मैं तुम्हारा क्या करूं ? तुमको शाप देना ही उचित है। हे पापिष्ठ ! तुमने इन्द्र के कारण मुझ को विधुर बना दिया।५। मैं इन्द्र को शाप न देकर तुम को ही शाप दूंगा। तुम सदा सर्प की भांति कपट व्यवहार करते हो। तुम दुष्ट हो।६। जो मुनि तुमको सतोगुणी कहते हैं वे अत्यंत मूर्ख हैं। तुम तामसी और दुराचारी हो, यह मैंने आज प्रत्यक्ष जान लिया।७। तुम मेरे शाप से मृत्युलोक में अनेक बार अवतार लोगे और गर्भ की यंत्रणा द्वारा अपने पाप का फल भोगोगे।८।

इसी पुराण में आगे फिर लिखा है:—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामं मीनो बभूवकमठः खलु सूकरस्तु। पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायां तान्सेवतां जननि मृत्युभयं न किं स्यात्॥ १८। दे० भा० स्कं० ५। अ० १६॥

हे जननि ! प्रकुपित भृगु मुनि के शाप से ही हरि पृथ्वी में मीन, कूर्म, शूकर, नृसिंह और वंचनातत्पर वामन इत्यादिक रूप धारण करके अवतीर्ण हुए थे। इसमें उनकी पराधीनता ही है। जो इन पराधीन अवतारों की सेवा करते हैं उन को मृत्युभय क्यों न होगा ?

किं चित्रं नृप देवी सा ब्रह्मा विष्णु,सुरानपि।
नर्तयत्यनिशं माया त्रिगुणानपरान् किम॥
गर्भवासोद्भवं दुःखं विण्मूत्रस्नायु संयुतम्।
विष्णोरापादितं सम्यग् यया विगत लीलया॥ ५
पुरा रामावतारेऽपि निर्जरा वानराः कृताः।
विदितं ते तथा विष्णुः दुःख पाशेन मोहितः॥ ६
दे० भा० स्कं ४। अ० २०

हे नृपते ! त्रिगुणा माया देवी ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवगणों

को भी नचाती रहती है, वह जो अन्य को मोहित करे तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

हे राजन् ! उस महामाया की लीला तो सिद्ध ही है। अधिक क्या ? उसने विष्णु को भी भलीभांति से मलमूत्र और स्नायु परिपूरित गर्भ में वास कराकर दुःख दिया था। ५। पूर्व काल में रामावतार के समय उसने देवगणों को वानर बना दिया था। हे राजन् ! इस प्रकार मायापाश में बंध कर भगवान् विष्णु ने जो दुःख भोगा था वह तुम भली भांति जानते हो।६।

इस भांति इस पुराण में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, राम, कृष्ण परशुराम, बुद्ध आदि सब ही देव और अवतारों के एक-एक कर के दोष गिनाये हैं और उन्हें पापयुक्त सिद्ध किया गया है। हम उन उद्धरणों को विस्तार भय से यहां नहीं देते।

शाक्त भी मस्तक पर भस्म लगाते हैं अतः भस्म न धारण करने वाले का जन्म जन्मान्तर में चांडाल होना बताया गया है:-

न यस्य सहजा प्रीतिर्मणिवद् भस्मसंग्रहे।
स चांडाल इति ज्ञेयः जन्मजन्मान्तरे ध्रुवम्॥

दे० भा० ११।१५।१५

ब्रह्मा—

ब्रह्मा को पुराणों में विशेष महत्व नहीं दिया गया और न वैष्णव, शैव तथा शाक्तों के समान ब्रह्मा के नाम से कोई पृथक् सम्प्रदाय अथवा पुराण ही है। कुछ अपवादों को छोड़ कर ब्रह्मा की मूर्तिपूजा का भी इस देश में प्रचलन नहीं है। केवल पुष्कर ही एक तीर्थ स्थान है जहाँ ब्रह्मा का मंदिर है। ब्रह्मा को बहिष्कृत किये जाने के सम्बन्ध में पद्मपुराण में एक कथा आती है। ब्रह्मा ने पुष्कर में एक यज्ञ किया। यज्ञ में ब्रह्मा

की पत्नी सावित्री के आने में देर हो गई। तब इन्द्र ने एक गोप कन्या को लाकर ब्रह्मा का गांधर्व विवाह करके यज्ञ में बिठला दिया और यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। तत्पश्चात् सावित्री भी आ गई। ब्रह्मा के इस कृत्य की उसके आलोचना करने पर ब्रह्मा ने कहा कि इसमें मेरा दोष नहीं। यज्ञ में देर हो रही थी, इन्द्र ने इस स्त्री को ला दिया, विष्णु भगवान् ने भी इस का अनुमोदन किया अतः हमने इसे ग्रहण कर लिया। हमारे अपराध को क्षमा करो। तब सावित्री ने शाप दिया कि आज से कार्तिकी पूर्णिमा के अतिरिक्त तुम्हारी पूजा न होगी:—

नैव ते ब्राह्मणाः पूजां करिष्यन्ति कदाचन।
ऋते तु कार्तिकीमेकां पूजां सांवत्सरीं तव॥

इसी प्रकार शिवपुराण विद्येश्वरी संहिता अध्याय ६ में एक अन्य कथा द्वारा ब्रह्मा की पूजा का निषेध किया गया है। कथा इस प्रकार है कि एक वार ब्रह्मा और विष्णु में अपने-अपने महत्व पर विवाद चल पड़ा और दोनों में घोर युद्ध हुआ। देवता उसे शांत कराने के लिये शिव के पास गये। शिव ने आकर दोनों के मध्य एक स्तम्भ को इतना बढ़ाया जो आकाश और पाताल में पूर्ण हो गया। और ब्रह्मा तथा विष्णु से कहा कि तुम दोनों में जो इसका अन्त देख आयगा वही इस जगत् में सब देवों में महान् समझा जायगा। तब वे दोनों सैकड़ों वर्ष उसका अन्त ढूंढ़ते रहे परन्तु अंत न पा सके। विष्णु ने आ कर सत्य कह दिया कि मुझे इसका अन्त नहीं मिला किन्तु ब्रह्मा ने झूठ बोला कि मुझे इसका अन्त मिल गया। इस पर शिव ने प्रसन्न होकर कहा—विष्णु ने सत्य बोला है अतः जगत् में उनकी मूर्ति की पूजा होगी:—

इतः परं ते पृथगात्मञ्च क्षेत्रप्रतिष्ठोत्सवपूजनं च।

और ब्रह्मा से कहा—कि तुमने असत्य भाषण किया है अतः तुम्हारी पूजा नहीं होगीः—

नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात्स्थानोत्सवादिकम् ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खंड अ० ३२ में भी इसी आशय की एक कथा दी हुई है, जिसके द्वारा ब्रह्मा को अपूज्य ठहराया गया है। वहां लिखा है कि विष्णु की प्रिया मोहनी एक वार कामातुर होकर ब्रह्मा के पास गई। ब्रह्मा ने विष्णु की प्रिया होने के कारण इस का निषेध किया तब मोहनी ने ब्रह्मा को शाप दिया कि जाओ तुम्हारी संसार में पूजा न होगी। ब्रह्मा ने विष्णु को जाकर समस्त वृतान्त सुनाया। विष्णु ने शाप दूर करने का उपाय गंगास्नान बताया और कहा कि तुम्हारी पृथक् पूजा तो न होगी, किन्तु अन्य देवों के साथ होगीः—

यदन्यदेवपूजायां तव पूजा भविष्यति ।

उपरोक्त सभी कथाएं विचित्र हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार ब्रह्मा के शिर दोष मढ़ कर उसकी पूजा का निषेध किया गया है। अन्यथा पुराणों में विष्णु और शिव को कलंकित करने वाली कथाओं की ब्रह्मा से कहीं अधिकता है। फिर ब्रह्मा को ही क्यों लक्ष्य बनाया गया? हमारा विचार है कि अब्राह्मणों ने जिन का कि मूर्तिपूजा के प्रचार में विशेष हाथ है, ब्राह्मणत्व के प्रतीक ब्रह्मा को अपमानित करने के लिये ही इन कथाओं की रचना की और उसे अपूज्य ठहराया।

जैसा कि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं मूर्तिपूजा का जन्म बौद्ध-काल में हुआ और सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति इस देश में पूजी जाने लगी। भगवान् बुद्ध स्वयं क्षत्रिय वंशज थे और उनका

प्रचार-क्षेत्र भी स्वभावतः ब्राह्मणेतर जातियों में ही रहा। बौद्धों की देखा-देखी बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् बुद्ध की मूर्ति का स्थान 'महेश्वर' और 'विष्णु' ने ले लिया। यह दोनों काल्पनिक देव भी ब्राह्मणत्व का प्रतीक न होकर क्षत्रियत्व का ही विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। संहार और पालन शक्ति क्षत्रियत्व का ही प्रतीक है। शाक्तों की 'शक्ति-पूजा' तो क्षात्र-धम प्रधान है ही।

विष्णु के मुख्यावतार 'राम' तथा 'कृष्ण' जिनकी पूजा का इस समय समस्त देश में प्रचार है और जिन्हें पूर्णावतार माना जाता है, क्षत्रिय वंशज ही थे। समस्त अवतारों में 'परुषराम' ही ब्राह्मण माने जाते हैं, जिनकी कहीं भी पूजा नहीं होती। अतः ब्राह्म धर्म के प्रतीक, वेदोपदेष्टा, याज्ञिक ब्रह्मा अथवा उसकी मूर्ति का ब्राह्मणेतर जातियों तथा क्षत्रिय राजाओं की राज्यवृत्ति पर पलने वाले लोलुप ब्राह्मणों द्वारा पुराणों में बहिष्कार करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ब्रह्मा वैदिक-ज्ञान का आदि प्रचारक है। यज्ञानुष्ठान के चार ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' का मुख्य स्थान है। किन्तु शैव, शाक्त एवं वष्णव, सम्प्रदायों में वेद के स्थान पर अपने-अपने पुराणों और यज्ञ के स्थान पर अपने अपने उपास्य देवों की मूर्तियों तथा मठ-मन्दिरों को ही प्रधानता दी गई है। शाक्त, यज्ञानुष्ठान करते हैं; किन्तु उसमें मांस मदिरा की आहुति तथा पशुबलि के पोषक हैं, जो सर्वथा अवैदिक कर्म हैं।

पुराणों में ऐसी कथाएं भी हैं, जिनमें शिव ने यज्ञों का विध्वंस किया। पद्मपुराण सृष्टि खंड अ० १७ में एक कथा आती है कि एक समय ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। महादेव यज्ञशाला में भिक्षा मांगने के लिये पञ्चसूत्र धारण किये तथा एक बड़ी

खोपड़ी हाथ में लिये ऋत्विज के समीप आकर बैठ गये। यह देखकर वेदपाठी ब्राह्मणों ने कहा कि तुम इस प्रकार का निन्दित वेश बनाये यज्ञशाला में कैसे चले आये ? उन्हें यज्ञशाला से निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये; किन्तु वह न गये। अंत में उन्हें भोजन कराकर सन्तुष्ट किया गया। तब कहीं यह कहकर कि हम पुष्कर स्नान के लिये जा रहे हैं वे वहाँ से टले; किन्तु अपना कपाल वहीं यज्ञ शाला में ही छोड़ गये जिसे ब्राह्मणों ने बाहर फैंक दिया। एक कपाल के फैंके जाने पर दूसरा कपाल वहां दिखाई देने लगा। इस प्रकार एक कपाल के फैंके जाने पर वहां फिर दूसरा कपाल उपस्थित हो जाता था। और हज़ार तक फैंके जाने पर भी उन का अन्त नहीं हुआ। विवश होकर ब्राह्मण, ब्रह्मा सहित पुष्कर गये और शिव की बड़ी स्तुति-प्रार्थना करने पर वह कपाल वहां से हटा। एक मन्वन्तर बीत जाने पर पुनः ब्रह्मा के यज्ञ में शिवजी आ उपस्थित हुए। इस वार भी वह अपने उसी नग्न वेश में उपस्थेन्द्रिय को हाथ में लिये यज्ञमंडप में आगये। लोगों ने उन्हें पुनः धिक्कारा और घसीट कर बाहर कर दिया और कहा कि स्त्रियों की उपस्थिति में तुम्हारा इस प्रकार प्रवेश निन्दनीय है। इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने ब्राह्मणों को अनेक शाप दिये।

एक दूसरी कथा शिव द्वारा अपने श्वसुर राजा दक्ष के यज्ञ विध्वंस की इसी पद्म पुराण सृष्टि खंड अ० ५ में आई है। दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव को आमंत्रित नहीं किया। उसका कारण दक्ष ने जो पार्वती को बताया, वह शिव के आसुरी कापालिक स्वरूप का भली प्रकार दिग्दर्शन कराता है। दक्ष ने कहा—तुम्हारा पति खोपड़ी का पात्र बनाये लिए रहते हैं। चर्म ओढ़ते हैं, चिता की भस्म लगाते हैं और नंगे रहते हैं। श्मशान भूमि में निवास

करते हैं एवं व्याघ्र चर्म धारण करते हैं। हाथी का चर्म भी ओढ़ते हैं जिससे रक्त के बिन्दु टपकते रहते हैं। मरे हुए मनुष्यों के कपालों की माला गले में पहने रहते हैं। इन्हीं अनेक कारणों से हमें लज्जा आती है और उन्हें अन्य देवों के साथ आमंत्रित करके, उनके साथ बिठाने में संकोच होता है।

शिव के इस प्रकार अपमानित होने पर उनके प्रमुख गण वीरभद्र ने अन्य गणों सहित इस यज्ञ को विध्वंस किया। यज्ञ शाला में आग लगादी, देवताओं को मार गिराया, विष्णु से घोर युद्ध हुआ। अन्त में विष्णु परास्त हुए और उनका शिर काट कर यज्ञ कुण्ड में डाल दिया। ऋषि, मुनि इधर-उधर भागने लगे। 'सरस्वती' और 'वेदमाता' की नासिका वीरभद्र ने अपने तीक्ष्ण नखों से उखाड़ ली और प्रजापति का शिर काट कर अग्नि में दग्ध कर दिया इत्यादि। यह विस्तृत कथा शैव सम्प्रदाय की वेद एवं यज्ञ विरोधी प्रवृत्ति का भली भान्ति चित्रण करती है।

उपरोक्त दोनों कथाएं हमारी इस धारणा को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि शैव, वैदिक यज्ञों के विरोधी थे और रामायण काल के राक्षसों की भान्ति यज्ञ विध्वंसक ही थे। उनकी प्रचलित शिवलिङ्ग पूजा, जिस पर कि हम आगे इसी अध्याय में पृथक् प्रकाश डालेंगे, वाममार्ग के भैरवी चक्र की स्त्री-पुरुष-गुप्तेन्द्रिय की पूजा की प्रतीक मात्र है। भैरवी चक्र का भैरव भी शिव का एक मुख्य गण है और इस प्रकार इस सम्प्रदाय का शाक्तों के वाममार्ग से निकट का सम्बन्ध है।

वैष्णव यद्यपि मांस, मदिरा का घोर विरोध करते हैं तथापि यज्ञ के स्थान पर मूर्तिपूजा का प्रचलन विशेषतः इसी सम्प्रदाय ने किया है। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, अवतारवाद तथा

मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन वैष्णवों से ही मिला। भागवत को 'पंचम वेद' बताना, वेद व्यास का वेद-शास्त्र सब ही से अतृप्त होकर भागवत रचने की कल्पना तथा कलियुग में तप, योग, समाधि को निष्फल बताकर केवल राम कृष्णादि के नाम मात्र कीर्तन को ही मुक्ति का सरलमार्ग बताना, यह समस्त क्रिया कलाप वेदमार्ग से विमुख करने वाले दुष्प्रयास ही कहे जा सकते हैं।

इस सम्प्रदाय की परस्त्री गमनादि व्यभिचार-पूर्ण प्रवृत्ति इसे भी वाममार्ग के निकट ही ला खड़ा करती है। इसके उपास्यदेव भगवान् विष्णु का जालंधर की पतिव्रता स्त्री वृन्दा के सतीत्व नष्ट करने की प्रसिद्ध कथा, कृष्णावतार का कुब्जा दासी के साथ सम्भोग, गोप कन्या राधा के साथ अनुचित प्रेम एवं सम्भोग तथा अन्य इसी प्रकार की कथाएं, जिन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, इस सम्प्रदाय में व्यभिचार को प्रोत्साहन देने के लिए पर्याप्त हैं। कृष्ण के साथ, उनकी पत्नियों के होते हुए भी, पूजा में राधा को स्थान देना, पर स्त्री गमन के लिए खुला प्रोत्साहन है। इसके परिणामस्वरूप पुराणों की दृष्टि में कृष्ण की लीलास्थली व्रज में किया हुआ व्यभिचार, व्यभिचार ही नहीं है। दक्षिण में इस सम्प्रदाय के सद्गृहस्थों द्वारा अपनी कन्याओं का विष्णुमूर्ति से विवाह करके उन्हें मंदिरों में गाने बजाने के लिए छोड़ देना, समय-समय पर इस सम्प्रदाय के गोस्वामियों, साधु-महन्तों द्वारा अपनी चेलियों के साथ होने वाली दुराचारपूर्ण दुर्घटनाएं—वाममार्ग के परस्त्री-गमनादि दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति मात्र ही हैं।

पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर इस वाममार्ग प्रवृत्ति का एक जीता जागता उदाहरण है। मंदिर पर अंकित व्यभिचारपूर्ण

चित्र, समस्त वैष्णवों का एक पंक्ति में उच्छिष्ट पत्तलों पर सखरा दाल भात का विना किसी भेद भाव के खान पान वाममार्ग का ही रूपान्तर मात्र है। अतः वैष्णव सम्प्रदाय भी वाममार्ग के प्रभाव से अछूता नहीं है। ऐसी अवस्था में वेद और यज्ञ के प्रवर्तक ब्रह्मा का, इन सम्प्रदायों द्वारा बहिष्कार करना अस्वाभाविक नहीं है।

वेदादि आर्य धर्म शास्त्रों में दैनिक पंच यज्ञों में "देव-यज्ञ" का विशेष महत्व है। इसे देव-पूजा भी इसलिये कहा जाता है कि अग्निहोत्र द्वारा आकाशादि पांच भौतिक देवों की पूजा अथवा शुद्धि अभिप्रेत है। इसी देव-पूजा शब्द का इन सम्प्रदायों द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि कल्पित देवों की पूजा अर्थ लगाया जाने लगा और इन ही देवों की मूर्तिपूजा ने कुछ काल में इस देव यज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने के लिये यज्ञों का महत्व घटाना आवश्यक भी था। कालान्तर में जिन यज्ञों का रामायण और महाभारत काल में सर्वत्र प्रचार था, उनका स्थान विभिन्न प्रकार की मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि ने ले लिया। जहां बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, वहां अब केवल मूर्तियों के सन्मुख धूप-दीप मात्रा शेष रह गया।

शिवलिंग पूजा—

हमारे देश में जिन देव मूर्तियों की पूजा की जाती है, उनमें शिवलिंग का एक विशेष स्थान है। अन्य देवों अथवा अवतारों की मूर्तियां उनके समस्त शरीर के आकार की होती हैं, किन्तु शिवलिंग जैसा कि नाम से ही सुस्पष्ट है, शिव की उपस्थेन्द्रिय की आकृति है। उपस्थेन्द्रिय की पूजा जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं वाम मार्ग के भैरवी चक्र की एक मुख्य परिक्रिया है। अतः यह शिव लिंग पूजा भी उसका ही प्रतीक है।

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान् मूर्तिपूजा के इस अश्लील तथा अशिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज़ उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता ; किन्तु इसके विपरीत इस 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है जो कि पुराणों में दी हुई अनेक साक्षियों के भी सर्वथा विपरीत है। इन नवीन व्याख्याताओं का कहना है कि 'लिङ्ग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिन्ह' है, अतः उनके अनुसार 'शिव लिंङ्ग' का अर्थ 'शिव का चिन्ह' हुआ। 'लिंग' का अर्थ निश्चय ही 'चिन्ह' है इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिन्ह है, जो स्त्री पुरुष का वर्गीकरण करता है, अतः कालान्तर में लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहां पुराणों की सुस्पष्ट कथा और अनेक साक्षियों के होते हुए क्या 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है ? पुराणों से कुछ ऐसी ही साक्षियां हम यहां संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं:—

शिवपुराण कोटि रुद्र संहिता ४, अ० १२ में दारुवन की एक कथा आती है—

दारु नाम वनं श्रेष्ठं तत्रासनृषिसत्तमाः।
शिवभक्ताः सदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः॥६
ते कदाचिद्वने याताः समिधाहरणाय च।
सर्वे द्विजर्षभाः शैवाः शिवध्यानपरायणाः॥८
एतस्मिन्नंतरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः।
विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः॥९
दिगम्बरोऽति तेजस्वी भूतिभूषणभूषितः।
स चेष्टां सकदक्षां च हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥१०

मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम्।
जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम् ॥११
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः।
विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुनः ॥१२
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा पराः।
परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा ॥१३
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्।
विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः ॥१४
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथा ब्रुवन्।
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमाया विमोहिताः ॥१५
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः।
ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः ॥१६
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्।
ततस्त्वदीयं तल्लिंगं पततां पृथिवीतले ॥ १७
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिंगं च पतितं क्षणात्।
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः ॥१८
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम्।
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः ॥१९
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च।
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत् ॥२०
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दुःखिता ॥२१
दुःखिताः मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२
मुनीशास्तास्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा ॥३१
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्।
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत् ॥३२

पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तथा।
सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः ॥४४
हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः श्रणुतादरात्।
योनि रूपेण मल्लिंगं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम् ॥४५
पार्वतीं च विना नान्या लिंगं धारयितुं क्षमा।
तया धृतं च मल्लिंगं द्रुतं शान्ति गमिष्यति ॥४६
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च।
पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिंगमुत्तमम् ॥४८

दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्य प्रति शिव का ध्यान किया करते थे। ६। वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिये सब के सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो शिव के भक्त तथा शिव का ध्यान करने वाले थे वन में गये। ८। इतने में साक्षात् महादेव जी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे। ९। नंगे, अति तेजस्वी, विभूति भूषण से शोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके। १०। मन से उन वनवासियों का भला करने के लिये भक्तों पर प्रसन्न होकर शिव जी स्वयं प्रीति से उस वन में गये। ११। उसको देखकर ऋषि पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत होगई, व्याकुल तथा आश्चर्यान्वित हुई, कई लौट आई। १२। कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ में धारण कर लिया तथा परस्पर के संघर्ष से वे स्त्रियाँ मग्न होगई। १३। इतने में ऋषि आगये और इस प्रकार के विरुद्ध काम को देख कर वे दुःखी हुए। क्रोध से मूर्छित होगये। १४। तब दुःख को प्राप्त हुए कहने लगे—यह कौन है? वे सब के सब ऋषि शिव की माया से मोहित होगये। १५। जब उस नंगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयंकर पुरुष को यों कहने लगे। १६। तुम जो यह

वेदमार्ग को लोप करने वाला विरुद्ध काम करते हो इसलिये तुम्हारा यह लिंग पृथिवी पर गिर पड़े। १७। उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा। १८। उस लिंग ने सब कुछ जो आगे आया अग्नि की भांति जला दिया। जहाँ-जहाँ वह जाता था वहाँ-वहाँ सब कुछ जला देता था। १९। वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग में भी गया, वह भूमि में सब जगह गया किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ। २०। सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल होगये तथा वे ऋषि अति दुखित हुए। २१। वे दुखी हुए सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये। २२। तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे। ३१। हे देवताओ ! पार्वती की आराधना करके शिव की प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनि रूप हो जावें तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा। ३२। तब उन ऋषियों ने परम भक्ति से शंकर की प्रार्थना और पूजा की। तब अति प्रसन्न होकर शिव उनसे बोले। ४४। हे देवता और ऋषि लोगो ! आप सब मेरी बात को आदर से सुनें। यदि मेरा लिंग योनि रूप से धारण किया जावे तब शान्त हो सकता है। ४५। मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता। उससे धारण किया हुआ मेरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा। ४६। पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया। ४८।

कथा अत्यन्त अश्लील है किन्तु प्रकरणवश देनी ही पड़ी। इस कथा में जिस शिवलिङ्ग तथा योनि का वर्णन है, शिवालयों में स्थापित लिङ्ग और जलहरी उसी की आकृति है। इसी लिङ्ग को शान्त रखने के लिये शिवलिङ्ग पर जलपूर्ण घट रक्खा

जाता है। इन समस्त बातों का शिवपुराण में सविस्तर वर्णन है। इसी प्रकार पद्मपुराण षष्ट उत्तर खंड अ० २५५ में लिखा है भृगु ऋषि को आता देखकर भी शिव जी पार्वती के संग मत्त रहे अतः भृगु ने उन्हें शाप दिया :—

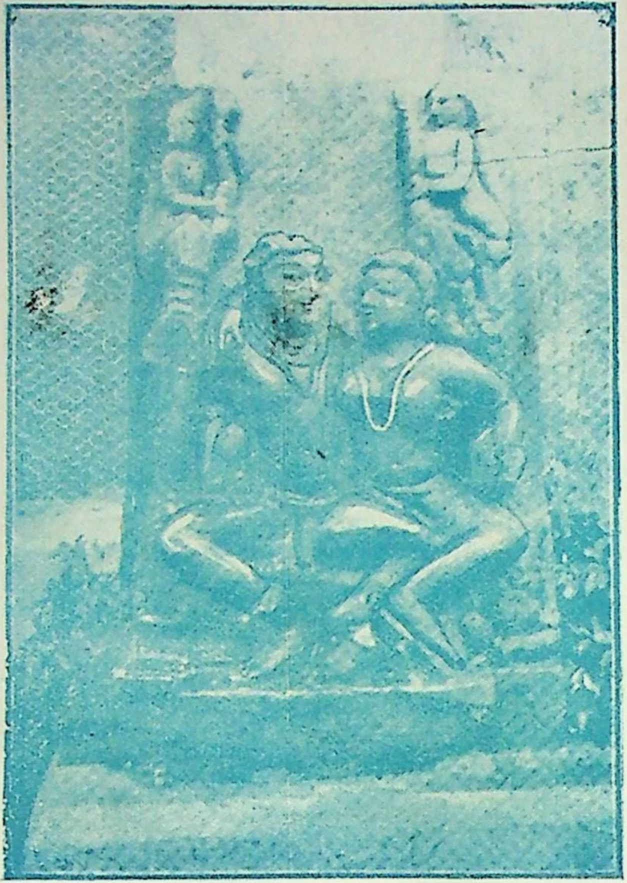
नारी संगममत्तो ऽसौ यस्मात्मामवमन्यते।
योनिलिङ्ग स्वरूपं वै तस्मात्तस्य भविष्यति॥

तुमने स्त्री के संग मत्त रहकर मेरा अपमान किया है, इस लिये तुम्हारा स्वरूप योनिलिङ्ग हो जाय।

भविष्यपुराण प्रति० खं० ४ अ० १७ में इस सम्बन्ध में एक दूसरी कथा आती है :—

कदाचिद्भगवानत्रि गँगाकूलेऽनसूयया ॥ ६७
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०
लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः।
ब्रह्मा काम ब्रह्मलोपः स्थितस्तस्यावशं गतः ॥७१
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा।
मैथुनाय समुद्यागं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥७३
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया ॥७४
महादेवस्य वै लिंगं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः।
चरणो वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः ॥७५

कभी भगवान् अत्रि अपनी पत्नी अनसूया सहित गंगा के किनारे रहते थे। ६७। उसके भाव को देखकर तीनों सनातन देव उस की पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे। ७०। हाथ में लिंग लिये हुए महादेव·········ब्रह्मा जी कामवश वेद का लोप करते हुए उस अनसूया के वश में होकर स्थित



भारशिव हरगौरी



दक्षिण—भारत गुडमल्लय-मन्दिर की शिव मूर्ति

होगये। ७१। मोहित होकर वहां वे देवता अनसूया को बलात् पकड़ कर मैथुन करने के लिये यत्न करने लगे। उस मुनि-पत्नी ने क्रोध में आकर उन्हें शाप दिया। ७४। कि महादेव जी का लिंग, ब्रह्मा का शिर और विष्णु के चरण संसार में पूजे जायंगे और हे देवताओ ! तुम्हारा उपहास होगा। ७५।

इस प्रमाण में शिर और पैर के साथ लिंग भी शरीर का एक अंग है और उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता।

देवी भागवत का एक अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करता है :—

शम्भोः पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम्।
शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य।
तं ये नरा भुवि भजंति कपालिनं तु।
तेषां सुखं कथमिहापि परत्र मातः ॥१६

देवी भा० स्कं० ५ अ० ६

हे माता ! महादेव के अरण्य मध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगु के शाप से उन का लिंग पृथिवी में गिरा, यह तो प्रसिद्ध ही है। जो कपाल को धारण करता है, ऐसे शिव को जो भजते हैं, उन को किस प्रकार सुख होगा ?

उपरोक्त सभी उद्धरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि देश में जिस शिव लिङ्ग की पूजा होती है, वह शिव तथा पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। दक्षिण भारत, बिहार, बंगाल तथा आसाम के कुछ मंदिरों में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग तथा शिव पार्वती की मूर्तियां जिनके चित्र गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में भी प्रकाशित हुए हैं, और जिन को हमने भी इस पुस्तक में दिया है, हमारे प्रतिपादित

विषय की पुष्टि में अकाट्य प्रमाण हैं। यह मूर्तियां इस विवाद को सदा के लिये समाप्त कर देती हैं कि यह शिव लिङ्ग, शिव-पार्वती उपस्थेन्द्रिय के सिवाय और कुछ नहीं है। और यह घृणित तथा अश्लील प्रकार की मूर्तिपूजा विधि वाममार्ग के भैरवी चक्र का अवशिष्टमात्र है। जहां एक पुरुष को शिव अथवा भैरव तथा एक स्त्री को देवी वा भैरवी बता कर उनकी उपस्थेन्द्रिय की पूजा की जाती है। आज देश से तंत्र ग्रथों का वाम-मार्ग लोप हो गया है; किन्तु एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक शिवलिंग पूजा द्वारा हिन्दू समाज आज भी उसे न केवल जीवित रख रहा है अपितु अनेक प्रकार से उस का औचित्य सिद्ध करने का दुष्प्रयास भी करता रहता है। आज भी सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार करके शिवलिङ्ग स्थापित किया जा रहा है, जिसके लिये देश के बड़े-बड़े नेताओं द्वारा ३५ लाख रुपये की अपार धन राशि संग्रह की जा चुकी है और न जाने कितनी और की जायगी। दुःख है कि हमारे नेताओं का ध्यान नालिंदा आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों के पुनरुद्धार की ओर न जाकर संसार में उपहास का कारण बनने वाली इस शिवलिङ्ग-स्थापना की ओर गया, जिसके लिये देश का लाखों रुपया पानी की भांति बहाया जा रहा है। इसे इस अभागो आर्य जाति का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। क्या किसी जाति के नैतिक पतन की इससे अधिक दुःखपूर्ण अवस्था हो सकती है?

पौराणिक काल पर हमारा यह अध्याय बहुत विस्तृत हो गया है। मूर्तिपूजा का जन्म तथा उत्थान इसी काल में हुआ अतः यह विस्तार स्वाभाविक ही था। हमने जो प्रमाण पुराणों से दिये हैं, वह न केवल कल्पित पौराणिक देवों का चरित्र चित्रण ही करते हैं अपितु आर्यजाति की उस समय की साम्प्र-दायिक दुरवस्था तथा सामाजिक पतन पर भी विशेष प्रकाश

डालते हैं। इन से हमारे इस विचार की पूर्णतः पुष्टि होती है कि मूर्तिपूजा विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति-भावना के स्थान पर केवल उनकी व्यावसायिक बुद्धि की ही विशेष परिचायक है। उनके मंदिर और मूर्तियां, तीर्थस्थान और उनके द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले लाखों, पंडे, पुजारी, साधु-महन्त इस समस्त व्यावसायिक मशीन के कल पुर्जे हैं।

जिस आर्य जाति ने वेद, शास्त्र, स्मृति जैसे उच्च कोटि के धार्मिक साहित्य को जन्म दिया हो, जहां से समस्त संसार ने धर्म एवं नीति का प्रथम पाठ पढ़ा हो, उस जाति का पुराणों के मिथ्या आचार विचारों में फंसकर एकेश्वरवाद तथा अष्टांग योग की उच्च शिक्षा के होते हुए अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा को अपनाना वास्तव में एक आश्चर्य की बात है। वर्तमान हिन्दू समाज का ईश्वर, उसकी पूजा विधि, तीर्थस्थान, पर्व, जातिभेद, संस्कार, रीति-नीति सब ही पर इस पौराणिक युग की गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि इसके अधःपतन का समस्त इतिहास इसी पैराणिक शिक्षा का दुष्परिणाम है।

इस शिक्षा के परिणाम स्वरूप इस ने क्या क्या यातनाएं सहीं, कैसे कष्ट उठाये, कितने अपमानों को सहन किया, इसका दुःखद इतिहास पाठक आगामी अध्यायों में पढ़ेंगे। यह सब होते हुए भी, यह अभागी जाति आज भी उसी शिक्षा से चिपटी हुई है। अज्ञान और स्वार्थ उसके परित्याग में आज भी बाधक हैं।

——:०:——

मूर्तिपूजा और मुस्लिमकाल (१)

सातवीं शताब्दि के मध्य में अरब और उसके निकटवर्तीय प्रदेश इस्लाम के प्रभाव में आ चुके थे। भारतवर्ष का अरब, ईरान, तुर्किस्तान तथा मिश्र आदि देशों से अति प्राचीन काल से न केवल व्यापारिक किन्तु धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अतः अरब आदि देशों के निवासियों का यहां सदा यातायात बना रहा। यहां के निवासी भी इन देशों में जाते रहे और अपने धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारों से उन्हें प्रभावित करते रहे। फलस्वरूप जिस समय यहां बौद्ध धर्म का प्रचार था, यह देश भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये। अरबी भाषा का 'बुद' तथा फारसी का 'बुत' शब्द जिसके अर्थ मूर्ति के हैं, 'बुद्ध' का ही रूपान्तर है। अरबी ग्रन्थों में बौद्धों के लिये 'समीना' 'समीनीन,' 'शामनान' आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा 'बोधि-स्वत्त' 'बोज़ासफ़' लिखा है।

इस्लाम के प्रचार के पश्चात् भी बौद्ध धर्म के चिन्ह अरब प्रदेशों में विद्यमान रहे, इस की अनेक साक्षियां मिलती हैं। आठवीं शती के प्रारम्भिक काल तक बलख़ में इन का एक अत्यन्त प्रसिद्ध 'विहार' जिसे अरब ऐतिहासिकों ने "नौ बहार" लिखा है 'नव-विहार' का ही अपभ्रंश है विद्यमान था, जिसके वैभव की इन्होंने बड़ी विशद व्याख्या की है। इसी के 'प्रमुख' भिक्षु, जिसे इन्होंने 'बरमक' लिखा है, के वंशज आगे

चल कर मुसलमान हो गये और अरब के खलीफ़ा हारूंरशीद आदि के प्रधान मंत्री बनते रहे।

भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म के ह्रास और पौराणिक-धर्म के उत्थान का इन देशों पर भी प्रभाव पड़ा और अरब में भी शैव तथा शाक्त धर्म फैल गया। सातवीं शती में चीन यात्री ह्वैनसांग ने अपनी यात्रा में भारतवर्ष में शिव की पूजा बड़ी शीघ्रता से बढ़ती हुई देखी और अयोध्या के निकट दुर्गा की मूर्ति के सन्मुख नरबलि की जाती देखी। उसका कहना है कि बुद्ध की मूर्तियों के स्थान पर शिव मूर्तियां स्थापित हो रही थीं और बौद्धों को अनेक प्रकार की यंत्रणायें देकर निकाला जा रहा था। नर मुण्डों की माला पहिने कापालियों का भी उसने उल्लेख किया है। उसने ईरान, अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया तक में बौद्धों और शैवों को बराबर पाया था। सारांश यह है कि जैसे-जैसे हमारे देश में धार्मिक परिवर्तन होते गये, उसके प्रभाव से अरब आदि देश भी अछूते न रहे। अरब में जिस स्थान पर आज मुसलमानों का काबा है, वह एक शिव मंदिर का ही अविशेष है और वहां 'संगेअसवद' जिसे मुसलमान यात्री आज भी सम्मान पूर्वक चूमते हैं, उस मन्दिर की शिवलिङ्ग मूर्ति ही है, जिसे मुहम्मद साहब ने भी किन्हीं कारणों से सुरक्षित रखना ही उचित समझा।

इन देशों के मुसलमान हो जाने पर भारतवर्ष भी उनके प्रभाव से न बच सका। एक ओर तो यह देश, 'एक ईश्वर', एक धर्म और एक धार्मिक पुस्तक — अल्लाह, इस्लाम और कुरान के नाम पर संगठित हो रहे थे, दूसरी ओर हमारा देश बहु-देवतावाद, मूर्तिपूजा, विभिन्न सम्प्रदाय और अनेकानेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होकर अपने प्राचीन वैभव को धूल

में मिला रहा था। फिर भला उसमें ऐसी शक्ति कहां थी कि वह इन देशों में बढ़ती हुई इस्लाम की आंधी से टक्कर लेता ? जिस समय मुसलमानों का पहिला आक्रमण इस देश पर हुआ, अरब के खलीफ़ा की ओर से एक व्यक्ति 'हज्जाज़'- ईराक, ईरान मकरान तथा बिलोचिस्तान का प्रबन्धक था। इस आक्रमण के दो कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह कि अरब के एक जहाज़ को कच्छ के लुटेरों ने लूट लिया था। हज्जाज़ ने जब सिंध के राजा दाहिर से इसका हरजाना मांगा, तो उसने यह उत्तर दिया कि यह स्थान उसकी सीमा से बाहिर है, अतः यह मांग अनुचित है। दूसरा यह कि हज्जाज़ के आधीन देशों के कुछ विद्रोही दाहिर को शरण में रहने लगे थे। हज्जाज़ ने इन्हें मांगा परन्तु दाहिर इन्हें देने को उद्यत न हुआ।

फलस्वरूप सन् ७१२ ई० में हज्जाज़ ने मुहम्मद बिन कासिम को सिंध पर आक्रमण करने के लिये भेजा। मुहम्मद बिन कासिम की आयु इस समय केवल बीस वर्ष की थी। यह ईरान, बिलोचिस्तान होता हुआ ६००० सैनिकों सहित सिंध पर चढ़ आया। जिन लोगों को विद्रोही बताकर हज्जाज़ ने दाहिर से मांगा था उनके सरदार ने दाहिर के सेनापतियों को तथा नारायण कोट के किलेदार को पहिले ही लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया था। समय पर यह शरणागत मुसलमान राजा के सेनापतियों सहित राजा के विपरीत हो गये। राजा ने तीस हज़ार सैनिकों सहित कासिम का सामना किया। आठ दिन तक घोर युद्ध हुआ। कासिम भागने को ही था कि एक ब्राह्मण उससे जा मिला और उसे बताया कि यदि मन्दिर का झंडा गिरा दिया जाय तो हिन्दू सेना भाग जायगी; क्योंकि उनके विश्वासानुसार झण्डा गिरने पर उनकी विजय असम्भव है। झण्डे को किसी प्रकार गिरा दिया गया। झण्डा गिरते ही समस्त सेना भागने

लगी। राजा दाहिर घायल होकर गिर गया! उसका शिर काट कर एक भाले पर लगा कर दिखाया गया, जिसे देखकर समस्त सेना भाग खड़ी हुई। मन्दिर विध्वंस कर दिया गया। उसी ब्राह्मण ने कुछ दक्षिणा प्राप्त करने के लालच में एक गुप्त खजाने का भी पता दिया, जिसमें ४० देगें सोने की थीं, जिनमें १७२०० मन सोना भरा था। इसके अतिरिक्त ६००० मूर्तियां ठोस सोने की थीं, जिनमें सबसे बड़ी मूर्ति का तौल ३० मन था। हीरा, पन्ना, मोती, लाल और माणिक्य इतने थे, जिन्हें कई ऊंटों पर लादा गया। जिस ब्राह्मण और जिन सेनापतियों ने राजा दाहिर से विद्रोह किया था, उन्हें कासिम ने कत्ल करा दिया। तत्पश्चात् उसने असंख्य मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया, नगरों और ग्रामों को लूटा, हज़ारों स्त्री पुरुषों को कत्ल कराया। प्रत्येक ग्राम के द्वार पर जाकर वह वहाँ के निवासियों को मुसलमान बनने और धन देने का आदेश देता, देर होने पर कत्ल और लूट करा देता था।

सिंध का सब से पहिला इस्लामी इतिहास जो 'चचनामा' के नाम से प्रसिद्ध है, कासिम के आक्रमण की इस घटना का एक दूसरे प्रकार से वर्णन करता है। इसके मतानुसार उस समय सिंध में पौराणिक-सम्प्रदायवादियों और बौद्धों के बीच गहरा संघर्ष था। दाहिर का पिता राजाचच, जिसके नाम पर यह इतिहास लिखा गया है, पौराणिक था और उसने बहुत से बौद्ध राजाओं को या तो नष्ट कर दिया था या अपने आधीन कर लिया था। इसके पश्चात् इसका छोटा भाई राजा बना, किन्तु वह बौद्ध था, अतः जिन्होंने चच के समय में बौद्धधर्म को तिलाञ्जलि देदी थी, उन्हें पुनः बौद्ध होने के लिए इसने विवश किया। पौराणिक सम्प्रदायों ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर दाहिर को राजा बनाया। इसी इतिहासकार का

कहना है कि क़ासिम का स्थान-स्थान पर बौद्धों ने स्वागत किया और उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाई। सिंध के एक व्यक्ति 'काका' के सम्बन्ध में, जिसे इसने एक सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् और नीतिज्ञ बताया है, लिखा है कि जब कुछ प्रतिष्ठित जाट सामन्त इसके पास गए और पूछा कि यदि इसका परामर्श हो तो कासिम की सेना पर रात को छापा मारा जाए? उसने उत्तर दिया कि यदि तुम ऐसा करते हो तो करो, किन्तु सुनो! हमारे पंडितों और योगियों ने ज्योतिष द्वारा यह भविष्यवाणी की है कि हमारे देश को एक दिन मुसलमान विजय कर लेंगे। लोग इन की बात नहीं मानते और हानि उठाते हैं। तुम जानते हो कि मैं सदा अपने निश्चय पर अटल रहने वाला हूँ। बौद्धों की पुस्तकों में भी यही भविष्यवाणी की गई है और मेरा भी यही निश्चय है कि वास्तव में ऐसा ही होने वाला है। तत्पश्चात् यह 'काका' मुहम्मद बिन कासिम के पास चला गया और जाट सामंतों के विचार से उसे सचेत कर दिया। उसने अपनी धार्मिक पुस्तकों की भविष्यवाणी का भी उससे वर्णन किया। कासिम ने उसका स्वागत किया और उसे अनेक बहुमूल्य पारितोषिक भेंट किए। इसी प्रकार राजा दाहिर के बहुत से विरोधी सेना-नायकों ने भी जाकर उसकी आधीनता स्वीकार करली। सम्भवतः यह काका वही देशद्रोही ब्राह्मण अथवा पुजारी था, जिसका अन्य इतिहासकारों ने कासिम से जा मिलने का उल्लेख किया है। यह है मुसलमानों द्वारा भारत को पराधीन करने वाले प्रथम युद्ध का संक्षिप्त विवरण, जिसके फलस्वरूप लगभग चौदह सौ वर्ष व्यतीत होने पर हमारे बंधन अब कहीं ढीले हुए हैं और वह भी मुसलमानों द्वारा इस देश को खंड-खंड करने के दुःखद परिणाम के पश्चात्।

उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि इस युद्ध में हमारी पराजय के कारण स्पष्टरूप से दो हैं और वह राजनैतिक न होकर नितांत धार्मिक और मानसिक हैं। पहिला हिन्दुओं का यह विश्वास कि मंदिर की मूर्ति एक चैतन्य दैवी शक्ति है और हमारी जय और पराजय उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह अप्रसन्न है तो हमारा सब प्रयत्न निष्फल है। झंडे का गिर जाना उसकी पराजय का सूचक है। दूसरा अपने साहस और पौरुष पर विश्वास न रखकर ज्योतिषियों के हाथ अपने भाग्य को सौंप देना। जिन भविष्यवाणियों का काका ने, जो स्वयं भी ज्योतिषी प्रतीत होता है, उल्लेख किया है वह क्या हैं? और कहाँ की हैं? इसका तो कुछ पता नहीं, किन्तु यह निर्विवाद है कि इसमें भी विदेशी आक्रमणकारियों का अवश्य ही हाथ है, जो उस समय के हिन्दुओं के अंधविश्वासों से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न करते थे। काका जैसे देशद्रोहियों का, जहाँ इतनी साम्प्रदायिक विभिन्नता हो, मिल जाना तो कोई कठिन बात है ही नहीं। इस प्रकार का अंधविश्वास, आत्म-संशय तथा भीरुता मूर्तिपूजा का स्वाभाविक फल है। जो जाति जड़मूर्ति के भय से थर-थर कांपे, वह एक ईश्वर-विश्वासी निर्भीक, जाति के सन्मुख कब तक ठहर सकती थी। हिन्दू उस समय के विदेशी आक्रमणकारियों से शरीरिक बल में कम हों, यह बात भी नहीं थी। एक प्रसिद्ध इतिहासकार बदाऊनी ने लिखा है :—

"हिन्दुओं के बराबर प्रतापशाली पठान और मुग़लों में एक भी जाति विद्यमान नहीं है।" परन्तु फिर भी अनेक धार्मिक और मानसिक रोगों ने जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, इस जाति को जर्जरित कर रक्खा था। क्या आज भी हम उनसे मुक्त हो सके हैं? एक अंग्रेज लेखक का यह कथन कि

'मुहम्मद बिन कासिम के समय से आज तक हिन्दू जाति ने न कुछ सीखा है और न कुछ भुलाया है' सर्वांश में सत्य है।

एक स्थान पर प्रसिद्ध अरबयात्री अलबरूनी ने लिखा है—"मुहम्मद बिन कासिम ने जब मुल्तान को विजय किया तो उसकी भारी जन संख्या और समृद्धिशाली होने का कारण वहाँ के प्रसिद्ध देव मन्दिर को पाया। अतः उसने उसे वैसा ही छोड़ दिया। किन्तु मूर्ति के गले में एक गाय की हड्डी बाँध दी जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाय कि वह इस मूर्ति को किसी श्रद्धा अथवा विश्वास के कारण अछूता नहीं छोड़ रहा है।" एक दूसरा मुसलमान इतिहासकार इसी मन्दिर के सम्बन्ध में लिखता है कि—"इस प्रकार मुल्तान का यह महान् देव-मन्दिर नगर के विजय होने पर भी सुरक्षित रहा। अरबों के तीनसौ वर्ष के राज्य काल में भी वह जैसे का तैसा बना रहा। अरब वासियों ने इस मन्दिर से आर्थिक और राजनैतिक दोनों लाभ उठाये। राजनैतिक यह कि जब कोई हिन्दू राजा मुल्तान पर आक्रमण करने की तैयारी करता तो अरब शासक उसे यह धमकी देकर भयभीत कर देता कि यदि उसने यहाँ आक्रमण किया तो इस मन्दिर को भस्मीभूत कर दिया जायगा। यह सुन कर अंध विश्वासी, धर्मभीरु राजा रुक जाता। आर्थिक लाभ यह कि समस्त भारत से लोग यहाँ की यात्रा को आते और चढ़ावा चढ़ाते थे, जो अरब शासक के राजकोष में ले लिया जाता था।" अरब यात्रियों का कहना है कि इस मन्दिर में अतुल चाँदी सोना था। दो दो सौ अशर्फियों का तो केवल अगर ही यहाँ जलाने को आता था। देवमूर्ति जो सूर्य देवता की थी, काष्ठ की बनी हुई थी, जिसके दोनों नेत्र बहुमूल्य रत्नों के थे और शिर पर सोने का मुकुट था।"

इस प्रकार मुसलमानों ने हमारे अंधविश्वास और मूर्खता का पूरा लाभ उठाया। हमारी देवमूर्तियां एक ओर अपने हिन्दू भक्तों से अपार धन हरण करने और दूसरी ओर उसे अपने विध्वंसकों के चरणों में अर्पित करने का साधन बनी हुई थीं। उनके भक्त पुजारी अपनी स्वार्थसिद्धि में रत थे। वह अपने व्यवसाय को चलता हुआ देखना चाहते थे। जाति का धन कहां जाता है, इसकी उन्हें चिन्ता न थी। वह उसमें अपना भाग सुरक्षित रखना चाहते थे और वह मुसलमान शासकों से उन्हें मिल ही जाता था। अनेक मुसल्मान यात्रियों का कहना है कि मुल्तान के निकटवर्ती हिन्दू राजा बड़ा सरलता से इस अरब शासन का अन्त करके धूल में मिला सकते थे परन्तु मूर्ति-ध्वंस के भय ने उन्हें साहसहीन बना रक्खा था। मूर्तिपूजा हमारी पराधीनता में कहां तक सहायक हुई, यह संसार के इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है। अनेक देशों को इस अन्ध विश्वास के लिये घोर प्रायश्चित करने पड़े हैं। यह अभागी आर्यजाति इतनी कठोर यातनाएं सहने पर भी, आज तक इस परम्परागत अंधविश्वास से मुक्त नहीं हुई। सिंध का वह देवी मन्दिर जो भारत की पराधीनता का सर्व प्रथम प्रतीक है, खंडहर रूप में आज भी उपस्थित है। प्रति वर्ष यहां एक बड़ा मेला लगता है, जहाँ हज़ारों हिन्दू अब भी उस देवी की पूजा करते हैं, परन्तु राजा दाहिर का नाम जिसने स्वदेश रक्षार्थ अपने प्राणार्पण कर दिये, आज केवल अतीत की वस्तु बन चुका है।

जिस समय का हम यहां उल्लेख कर रहे हैं, वह इस देश के घोर अधःपतन का समय था। पौराणिक सम्प्रदायवाद अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, और हिन्दू मन्दिर अपार धन-राशि के केन्द्र बने हुए थे। एक अरब लेखक इब्न नदीम ने एक

अन्य लेखक के आधार पर गुजरात के एक मन्दिर के अपार वैभव का उल्लेख करते हुए लिखा है—"गुजरात के राजा वल्लभराय की राजधानी महानगर के देव मंदिर में सोने, चांदी, लोहे, पीतल, हाथीदाँत और हर प्रकार के बहुमूल्य पाषाण और मणियों की बीस हज़ार मूर्तियां हैं। उसकी एक मूर्ति बारह हाथ ऊँची स्वर्ण की है जो स्वर्ण के ही सिंहासन पर विराजमान है। यह सिंहासन एक गोलाकार ऊँचे स्वर्ण के भवन में स्थित है। यह भवन स्वच्छ मोतियों, लाल, हरे, पीले और नीले रंग के जवाहरात से सुसज्जित है। वर्ष में एक वार इसका मेला होता है। राजा स्वयं वहां पैदल आता-जाता है। इस मूर्ति के सन्मुख वर्ष में एक दिन बलि दी जाती है और मनुष्य तक उस पर अपनी बलि चढ़ाते हैं।" अतः विदेशी मुसलमानों द्वारा इन मन्दिरों पर आक्रमण का कारण न केवल मूर्ति-ध्वंस द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की लालसा ही थी, अपितु इन मन्दिरों का अपार वैभव भी उन्हें यहां खींच लाने का एक मुख्य कारण था। जिस छल कपट से पौराणिक साम्प्रदायिकों ने इसको संग्रह किया था, उसी भाँति वह उनसे अपहरण कर लिया गया। ईश्वर से विमुख होने के फल स्वरूप जो शताब्दियों तक मार खाई और अपमान सहन किये, वे पृथक् रहे।

मुहम्मद बिन कासिम के भारत आक्रमण के लग-भग तीन सौ वर्ष पीछे गज़नी के महमूद ने इसी लूट के लालच से इस देश पर धावा बोल दिया। इसने लगातार तीस वर्ष तक भारत पर सतरह आक्रमण किये और समस्त पश्चिमोत्तर भारत को भस्मीभूत कर दिया। इसने नगरकोट के मन्दिर को विध्वंस करके इसमें ७०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी और २० मन हीरे, मोती,

जवाहरात लूटे। थानेश्वर के आक्रमण में २ लाख हिन्दुओं को बंदी बना कर गज़नी ले गया। 'फरिश्ता' लिखता है कि उस समय गज़नी हिन्दुओं की-सी नगरी प्रतीत होती थी। मदुरा की लूट में उसे ६ ठोस सोने की मूर्तियां मिलीं जिनके शरीर पर ११ बहुमूल्य रत्न थे। वहाँ से वह इतने हिन्दू गुलाम बनाकर ले गया था कि गज़नी में उसने एक-एक गुलाम को २॥) रुपये को बेचना चाहा परन्तु मोल लेने वाले न मिले। मदुरा को देख कर महमूद ने स्वयं कहा था कि हज़ारों महल विश्वासी के विश्वास की भाँति दृढ़ भाव से खड़े हैं, जो संगमरमर के बने हैं। यहाँ असंख्य हिन्दू मंदिर हैं। अनन्त धन खर्च किये बिना नगरी इतनी सुन्दर नहीं बन सकती। दो सौ वर्ष के यत्न और परिश्रम बिना ऐसा नगर-निर्माण असम्भव है।

इसके पश्चात् इसने गुजरात के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस विशाल मन्दिर में अगणित बहुमूल्य रत्न लगे हुए थे। ४० मन भारी सोने की जंजीर में एक भारी घंटा लटक रहा था। उसमें ५ गज ऊँची शिव-मूर्ति अधर लटक रही थी, जिसे उसने अपने हाथों से तोड़ कर असंख्य रत्नों का ढेर लूट लिया। उस मूर्ति को गज़नी ले गया। इसके टुकड़े-टुकड़े करके एक टुकड़ा मस्जिद की सीढ़ियों में और एक अपने महल की सीढ़ियों में लगा दिया। उसने उस मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद निर्माण करादी, जो अब तक खड़ी है।

इससे पूर्व कदाचित् ही इस देश ने कभी इतने दुर्दिन देखे हों। सोमनाथ की जिस शिवमूर्ति को महमूद ने अपने हाथों एक गदा से विध्वंस किया था वह बिना किसी दृष्ट आधार के

मंदिर में अधर स्थित थी। शैव लोगों में मूर्ति के इस चमत्कार को बड़े कौतूहल की दृष्टि से देखा जाता था और भोली हिन्दू जाति के अंधविश्वास और तत्कालीन आर्थिक वैभव से मंदिर के पुजारी और उनके संरक्षक क्षत्रिय-राजा पूर्ण लाभ उठाते थे। यह मूर्ति लोहे की बनी हुई थी। मंदिर में ऊपर नीचे दोनों ओर चुम्बक पत्थर लगा हुआ था जिसके आकर्षण से यह मूर्ति अधर स्थित थी। महमूद ग़ज़नवी ने जब इसे तोड़ना चाहा तो पुजारियों ने उसे न तोड़ने की बड़ी अनुनय-विनय की और बदले में बहुत धन देने को भी कहा, किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं 'मूर्ति-भंजक' हूँ 'मूर्ति-विक्रेता' नहीं।

पुजारियों की इस प्रार्थना के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहिला यह कि उस 'शिवलिङ्ग' के भीतर बहुमूल्य रत्न भरे हुए थे। दूसरा यह कि इससे उनका समस्त चमत्कार जिसके आधार पर उनका यह व्यवसाय चल रहा था, धूल में मिल जाता था।

इन शिव भक्तों की इस शिवलिङ्ग ने तनिक भी सहायता नहीं की और एक अविश्वासी, बर्बर द्वारा क्षणभर में उसके खंड-खंड हो गये। इससे तीन सौ वर्ष पूर्व मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय 'देवी' भी अपने उपासकों की सहायक न होसकी और न अपनी ही रक्षा कर सकी। पुनः तीन सौ वर्ष पश्चात् भारत प्रसिद्ध शिव मंदिर को विध्वंस किया गया और शिवलिङ्ग के खण्ड खण्ड करके उस स्थान पर मस्जिद बनादी गई परन्तु इस वार भी शिव की समाधि भंग नहीं हुई। उपरोक्त दोनों ही ऐतिहासिक घटनाएं हैं, हमारी क्लिष्ट कल्पनाएं नहीं। सोमनाथ, काशी, अयोध्या, तथा मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों की वक्षस्थली पर देव मन्दिरों को विध्वंस करके उनकी जगह खड़ी हुई मस्जिदें आज भी मूर्तिपूजा की निःसारता तथा

उसे इस देश की पराधीनता का मुख्य तथा प्रबल कारण घोषित कर रही हैं। तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था कितनी दयनीय थी, इसका वर्णन अरब का प्रसिद्ध यात्री अलबरूनी जो महमूद के आक्रमण के समय भारत में ही उपस्थित था, निम्न शब्दों में करता है:—

"भारत बहुत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। सब राज्य स्वतंत्र हैं और परस्पर युद्ध में प्रवृत्त रहते हैं। ब्राह्मण अपने अधिकारों की रक्षा के लिये इतने व्याकुल हैं और जाति-भेद का ऐसा द्वेषभाव फैल रहा है कि वैश्यों और शूद्रों को वेद-पाठ करते देखकर, ब्राह्मण उनपर तलवार लेकर टूट पड़ते हैं। और उन्हें राजकचहरी में उपस्थित करते हैं, जहाँ उनकी जिह्वा काट ली जाती है। ब्राह्मण सब प्रकार के राज्य-कर से मुक्त हैं। हिन्दू बालाएं सती हो जाती हैं। हिन्दू किसी देश को नहीं जाते, किसी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। वे अपने को और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।"

परन्तु अन्त में इन ब्राह्मण और क्षत्रियों को भी अपने इन पापों का फल भोगना पड़ा। वे भी गज़नी के बाज़ारों में दो-दो रुपये को बिके।

महमूद गज़नवी के लगभग १५० वर्ष पश्चात् १२ वीं शती में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने बढ़कर उसे परास्त किया और उसे बंदी कर लिया परन्तु कुछ दंड लेकर छोड़ दिया। छः वार उसने आक्रमण किये और हार कर बंदी हुआ और धन लेकर छोड़ दिया गया। पृथ्वीराज और जयचन्द्र के पारस्परिक युद्ध ने मुहम्मद गौरी को फिर एक वार भारत पर आक्रमण करने का अवसर दिया। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज से परास्त हो कर मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण

करने का निमंत्रण भेजा और पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। इस बार भी पृथ्वीराज ने डट कर सामना किया। मुहम्मद ग़ौरी की सेना भागने ही को थी कि जयचन्द्र की सेना ने पीछे से आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज पकड़े गये और मुहम्मद ग़ौरी उन्हें बंदी बनाकर अपने साथ ले गया। इस प्रकार हिन्दू-स्वाधीनता का दीप सदा के लिये बुझ गया।

इसके दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। जयचन्द्र की सेना में उस समय पचास हज़ार मुसलमान सवार थे। वह युद्ध के समय जयचन्द्र की ही सेना पर उलट पड़े। राठौरों की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और जयचन्द्र, कुतुबुद्दीन ऐबक के तीर से घायल हो कर घोड़े सहित गंगा में गिर कर डूब गया। इसने कन्नौज में १००० मंदिर विध्वंस किये और ४०० ऊँटों पर लूटा हुआ सोना और चांदी लाद कर अफ़गानिस्तान ले गया। इस प्रकार जयचन्द्र को भी अपने देशद्रोह का प्रायश्चित्त दूसरे ही वर्ष करना पड़ा।

जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त हो रहा था, उस समय दक्षिण भारत की अवस्था भी कुछ अच्छी न थी। महमूद गज़नवी ने दक्षिण में, मंदिरों की लूट के लालच में मदुरा पर आक्रमण अवश्य किया; परन्तु इसका उस पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। वह एक आंधी की भांति गया और उसी प्रकार लौट आया। जैसा कि इस से पूर्व लिख चुके हैं, भारत का अरब से बहुत पहिले से व्यापारिक संबंध था। दक्षिण भारत तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है, अतः वहां जहाज़ों द्वारा अरब व्यापारियों का आना-जाना निरंतर बना रहता था। अरब के इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर परिस्थिति कुछ भिन्न हो गई। पहिले वहां का निवासी केवल एक

व्यापारी था किन्तु अब उस में अपने नवीन धर्म के प्रचार की धुन भी थी। अतः उन्हों ने अब व्यापार के साथ धीरे-धीरे अपना धर्म प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। यह वह समय था जब पौराणिक सम्प्रदायवाद ने हिन्दू जाति को खोकला कर दिया था। वह अपना आत्म विश्वास, शौर्य और साहस सब कुछ खो बैठी थी। निम्न जाति के लोगों के साथ ब्राह्मण-क्षत्रियों का व्यवहार अमानुषिक था। पौराणिक भूलभुलैयों में यहां का प्राचीन सरल तथा सुबोध धर्म अपना आकर्षण खो चुका था। मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा अपनी उपास्यदेव मूर्तियों तथा मंदिरों की दुर्दशा देख कर हिन्दुओं का धार्मिक विश्वास हिल चुका था। अतः इस नवीन धर्म को पैर जमाने के लिये वहां की भूमि कुछ प्रतिकूल न थी।

हिन्दू-राज्यशक्ति पारस्परिक गृहयुद्ध से विनष्ट हो रही थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रताप को देखकर प्रत्येक राजा उनकी सहायता से लाभ उठाने के लिये उत्सुक था। मुसलमानों को ऊँचे-ऊँचे राज्यपद मिलने लगे, जिससे लाभ उठाकर उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी मस्जिदें बनानी प्रारम्भ कर दीं। उनको राज्य की हर प्रकार की सुविधाएं सहज में प्राप्त हो गईं और मुसलमानों ने अपनी बस्तियां बसानी आरम्भ कर दीं। राज्य की ओर से उन्हें अपने पृथक् न्यायालय तक स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया और उनके लिये पृथक् काज़ी नियत कर दिये गये। इन हिन्दू राजाओं ने इन विदेशियों के आतिथ्य सत्कार में कोई कोर-कसर न उठा रखी। हिन्दू जाति वैसे ही अपने आतिथ्य के लिये सदा से प्रसिद्ध है। फिर इस समय तो उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों का ही दिवाला निकल चुका था। अपने और पराये तक का भेद जानने की शक्ति

विनष्ट हो चुकी थी। मुसलमानों ने इस सुअवसर से पूरा पूरा लाभ उठाया और धीरे-धीरे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-धर्म उसके समक्ष निश्चय ही निर्बल और आकर्षणहीन था, अतः वह उससे टक्कर लेने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ।

प्राचीन वैदिक-धर्म की विश्व को आर्य बनाने की विशुद्ध भावना नष्ट हो चुकी थी। पौराणिक-धर्म में विधर्मियों को अपने में मिलाने का विधान नहीं है और यदि हो भी तो जन्म-गत जाति-पांति के गोरखधंधे में इन नव आगन्तुकों के लिये हिन्दू समाज में कोई स्थान नहीं है। इस्लाम का एकेश्वरवाद जड़ पूजा निषेध, भ्रातृ-प्रेम तथा समानता के भाव निर्विवाद रूप से—वैदिक-धर्म के परिज्ञान के अभाव में पौराणिक-धर्म पर विशेष थे। फलस्वरूप न केवल निम्न श्रेणी के दलित हिन्दू ही, अपितु दक्षिण के अनेक राजा तक इस्लाम में दीक्षित हो गये। राजा के धर्म परिवर्तन का स्वभावतः प्रजा पर भी प्रभाव पड़ता है, और हुआ भी। धीरे-धीरे लाखों हिन्दू मुसलमान हो गये। मालाबार कोदंगल्लूर का राजा चेरामन पैरूमल जैमोरिन की शंकाओं का पौराणिक विद्वान् समाधान न कर सके और वह मुसलमान हो गया। उसका नाम अब्दुर्रहमान रक्खा गया और वह अरब को मक्का की यात्रा पर चला गया। वहां से उसने कई प्रचारक मालाबार भेजे जिन्होंने ११ मस्जिदें बनवाईं और इस्लाम का प्रचार किया। राजा वहां से नहीं लौटा और ४ वर्ष पश्चात् मर गया। आज भी जेमोरिन राजगद्दी के अवसर पर अपना शिर मुंडवाता है और मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनता है। एक मोपला मुसलमान उसके शिर पर मुकुट रखता है। राज्याभिषेक के उपरान्त वह जाति-बहिष्कृत समझा जाता है।

इस राजा के प्रभाव से वहां इस्लाम का अच्छा प्रचार हुआ। एक अरब यात्री मसूदी ने १० वीं शती में चौल में १० हज़ार मुसलमानों की बस्ती पाई। इब्नबतूता ने भी खम्मात से मालाबार तक सर्वत्र मुसलमानों की अच्छी जनसंख्या देखी और उन्हें समृद्धिशाली पाया। गोआ मुसलमानों के अधिकार में था। हिनोर में भी मुसलमानों का राज्य था और मंगलोर में भी ४ हज़ार मुसलमानों की बसावट थी। संक्षेपतः दक्षिण भारत के समस्त समुद्री तट पर मुसलमानों की बस्तियाँ थीं और न केवल मुसलमानों द्वारा किन्तु राजाओं की ओर से बड़ी बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं थीं।

नज्दवली ने तेरहवीं शती में मदुरा और त्रिचनापल्ली में बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। बाबा फखरुद्दीन एक साधु था, पेन्नुकोंडा में रहता था, उसने वहां के राजा को मुसलमान बनाया और एक मस्जिद बनवाई। उस समय भी बीजानगर दक्षिण का एक विशाल राज्य था। राजा की सेना में १०००० (दस हज़ार) मुसलमान सैनिक थे, जिनका राजा बड़ा आदर करता था। राजा ने एक मस्जिद भी बनवादी थी और कुरान को आदर और सन्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

मुसलमानों ने हिन्दुओं के अंध विश्वास और अज्ञान से भी पूरा लाभ उठाया। उन्होंने धर्म प्रचार में छल, कपट और कूटनीति का यथावसर पूरा उपयोग किया। माल द्वीप में इस्लाम कैसे फैला? इस सम्बन्ध में इबनबतूता ने लिखा है कि यहाँ के निवासी पहिले सब मूर्तिपूजक थे। यहाँ समुद्र की ओर से प्रति मास एक राक्षस आता था। जब वहाँ के निवासी इसे देखते थे तो एक अविवाहित लड़की को शृंगार

करके उसे देव मन्दिर में छोड़ आते थे जो समुद्र तट पर स्थित था। परन्तु मराको का एक अरब शेख़ अबुउल्बर्कात बरबरी मगरबी जो अकस्मात् यहां आये हुए थे उनकी प्रार्थना और कृपा से द्वीप निवासी उससे मुक्त हो गये। इस चमत्कार को देखकर वहां का राजा शनो राजा और उसकी समस्त प्रजा मुसलमान हो गई। यह समुद्र की ओर से आनेवाला राक्षस कौन था और उसका उक्त शेख़ ने कैसे दमन किया यह एक विचित्र रहस्य है। सम्भवतः यह या तो कोई दुष्ट व्यक्ति था जो उस समय मूर्तिपूजा आदि प्रचलित अनेकानेक अन्ध विश्व सों से लाभ उठाकर वहां की जनता को भयभीत करके इस दुराचारपूर्ण कुकृत्य में प्रवृत्त था जिसे इस शेख़ ने वश में कर लिया था फिर यह क़िसी मुसलमान की ही करतूत थी, जिसकी मंत्रणा से शेख़ ने लाभ उठाया। इसी प्रकार मद्रास के दहपट्टन के राजा कोयल की एक घटना वर्णित है। राजा कोयल का एक पूवज मुसलमान हो गया था और उसने एक मस्जिद बनवाई थी। उसके मुसलमान होने का वर्णन इब्न-बतूता ने यहां के मुसलमानों से सुना, कि जहां मस्जिद है वहां एक वृक्ष था जिस पर 'कल्मा' लिखा होता था। जिसे आधा हिन्दू और आधा मुसलमान ले जाते थे। इससे रोगी स्वस्थ हो जाते थे। इसी चमत्कार को देखकर राजा मुसलमान हो गया। बुद्धपट्टन की मस्जिद के एक ऐसे ही चमत्कार का इसने उल्लेख किया है। वहां समुद्र तट पर एक मस्जिद थी। उसकी छत तोड़कर किसी ब्राह्मण ने एक लकड़ी अपने घर में लगा ली। फलतः उस ब्राह्मण के घर में आग लग गई और वह सपरिवार उसमें जल कर मर गया।

जिन मुसलमानों को राजा अपने यहां उच्च पदों पर नियुक्त

करते थे वे समय पाकर स्वयं वहां के राजा बन बैठते थे। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। कारोमंडल के राजा सुन्दर पाठय के मंत्री तक़ीउद्दीन का भाई जमालुद्दीन, जो राज्य के लिये प्रति वर्ष दस हज़ार घोड़े अरब से लाकर विक्रय किया करता था, राजा के मरने पर वहां का राजा बन बैठा। जमालुद्दीन के हाथ सात हज़ार बैलों का बोझ और सोना और जवाहरात लगे और तक़ीउद्दीन उसका सहायक नियुक्त हुआ।

उस समय इस्लाम के प्रचार में एक अन्य उपाय का भी अवलम्बन किया जा रहा था। मुसलमान फ़कीर हिन्दू वेष में मंदिरों में रहकर वहां की आंतरिक दशा का अध्ययन करते थे और उसकी सूचना अपने प्रचारकों और मुस्लिम शासकों को देते रहते थे। जो समय पर उनसे पूरा लाभ उठाते थे। इब्न-बतूता का कहना है कि चन्दापुर के निकट एक मंदिर में उसकी भेंट एक जोगी से हुई जो वास्तव में एक मुसलमान सूफ़ी था और केवल संकेत से बात चीत करता था। फ़ारसी का प्रसिद्ध कवि शेख़ सादी सोमनाथ के मंदिर में कुछ समय हिन्दू साधु बन कर रह गया था। इसी प्रकार समस्त देश में मुसलमान साधु बड़ी सरलता और शान्ति से पौराणिक धर्म की दुर्बलता से लाभ उठा कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। ११९७ ई० में शेख़ मुईन्नुद्दीन चिश्ती ने अजमेर के मंदिर के महन्त रामदेव और योगी राज अजयपाल को मुसलमान बनाया। इसी मठ के सूफ़ियों ने आगे चल कर इस्लाम के प्रचार का बड़ा कार्य किया। दक्षिण में सद्र दीन ने खोजा सम्प्रदाय को जन्म दिया जो आज कट्टर मुसलमान हैं।

उत्तर-पश्चिम में भी लाखों हिन्दू जहां तलवार के जोर से मुसलमान बनाये गये वहां कुछ ऐसे भी थे जिन्हों ने पौराणिक

मतमतान्तरों और विशेष कर मूर्तिपूजा से असंतुष्ट होकर भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। बलाज़री, एक अरब इतिहासकार, जो नवीं शताब्दि में हुआ है, लिखता है कि कश्मीर, काबुल, और मुल्तान के बीच असीफान (असीवान) के राजा का एक लाडला पुत्र बहुत बीमार हुआ। राजा ने मंदिर के पुजारियों को बुलाकर उसकी जीवन रक्षा के लिये देवता से प्रार्थना करने को कहा। पुजारियों ने आकर दूसरे दिन कहा कि प्रार्थना की गई और देवताओं ने उसे जीवन-दान देने की कृपा की है। परन्तु राजा का पुत्र थोड़ी ही देर पीछे मर गया। राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने उसी समय जा कर मंदिर विध्वंस करा दिया! पुजारियों के शिर काट लिये गये। राजा ने नगर में जो मुसलमान व्यापारी थे उन्हें बुलाकर उनसे इस्लाम के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूछताछ की और मुसलमान हो गया।

जहां अनेकानेक हिन्दू, मुसलमान हो रहे थे वहां कभी कभी कोई सरल प्रकृति मुसलमान भी मंदिरों के अद्भुत चमत्कारों को देख कर पुजारियों के चकमे में आ जाता था। एक अरब यात्री जो बैतुल्मुकद्दस का निवासी था दसवीं शताब्दि में सिन्ध के मंदिरों के वर्णन में कहता है कि "हवरवा" में पत्थर की दो अद्भुत मूर्तियां हैं। वे देखने में सोने, चांदी की प्रतीत होती हैं। कहते हैं कि यहां आकर जो प्रार्थना की जाती है वह स्वीकृत हो जाती है। यहां हरे रंग का पानी का एक कुण्ड है; यह पानी घावों के लिये बड़ा लाभप्रद है। यहां पुजारियों का व्यय देवदासियों द्वारा पूरा होता है। बड़े-बड़े लोग अपनी लड़कियों को ला कर यहां चढ़ाते हैं। मैंने यहां एक मुसलमान को देखा जो इन दोनों मूर्तियों की पूजा करने लगा था। पीछे वह वैशापुर में जा कर पुनः मुसलमान हो गया। यह दोनों मूर्तियां जादू की थीं। उनको कोई हाथ से छू नहीं सकता था"। जिन चम-

त्कारों के आधार पर देश को सहस्रों वर्षों तक लूटा गया, न जाने इन मूर्तियों की दैवी शक्ति उस समय जब मुसलमानों ने उन्हें खंड-खंड करके मस्जिदों की सीढ़ियों तक में लगाया, कहां विलुप्त हो गई! आज भी वही मूर्तियां हर प्रकार के चमत्कारों से शून्य हैं।

मूर्तिपूजा और उसके कुपरिणामों का चित्रण जो कुछ तत्कालीन अरब यात्रियों और विद्वान् लेखकों ने किया है और जो अब भी उपलब्ध है उसे संक्षेप में हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

इब्न नदीम ने अनेक प्रकार की मूर्तियों और उनकी आकृतियों का वर्णन किया है। यहाँ उसने काली के चार हाथ, नीला रंग, दांत निकले हुए, पीठ पर हाथी की खाल जिससे खून की बूँदें टपकती हैं, शिर पर खोपड़ियों का ताज और उन्हीं की गले में माला देखी। सूर्य की मूर्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि एक गाड़ी में चार घोड़े जुते हैं, एक पर मूर्ति है। उसके भक्त उसको दण्डवत् करते हैं, चारों ओर घूमते हैं, धूप जलाते हैं और बाजा बजाते हैं। मंदिर से बहुत सी जायदाद लगी है और बहुत से पुजारी हैं जो इस मंदिर और जायदाद का प्रबंध करते हैं। चन्द्रमा की मूर्ति का रथ चार बतों (हंसों) वाला बताया है। मूर्ति के हाथ में एक बहुत बड़ा लाल होता है, जिसे चन्द्रकेतु कहते हैं। शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को इसकी पूजा होती है। गङ्गा के माहात्म्य का भी इसने वर्णन किया है।

दूसरा लेखक मुत्कह्लिम महतर (दशम शताब्दि) महादेव, काली, महाकाली, और लिङ्ग पूजा का वर्णन करता है। इसने अग्निहोत्री और योगियों का भी अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये गाय की पूजा करते हैं, गङ्गा से पार जाना पाप समझते हैं और किसी दूसरे

को अपने धर्म में नहीं लेते। एक अन्य लेखक अब्दुल्करीम शहरस्तानी ने वृक्षों की पूजा का भी उल्लेख किया है।

इन अरब यात्रियों ने देवमन्दिरों में 'देवदासी' प्रथा का बड़ी घृणा के साथ वर्णन किया है। मूर्तियों के सन्मुख मंदिरों में अपना जीवन बलिदान करने वाले भक्तों का उन्होंने बड़ा रोमाञ्चकारी चित्र खींचा है। गङ्गा में डूब कर जान देना तो साधारण बात लिखी है। अबूज़ैद सैराफी कहता है—"इन लोगों को आवागमन पर इतना विश्वास है कि अग्नि में जीवित भस्म हो जाना इनके लिए साधारण बात है। जब कोई अपने आपको भस्म करना चाहता है तो राजा की आज्ञा लेता है। बाज़ारों में घूमता है, झांझ बजाई जाती है। एक फूलों का मुकुट जिसमें अग्नि रक्खी होती है उसके सिर पर पहनाते हैं। और वह इस प्रकार धीरे धीरे जलता हुआ पूर्व से प्रज्वलित की हुई अग्नि में कूदकर भस्म होजाता है। एक दूसरे व्यक्ति का एक छुरी द्वारा अपना हृदय अपने हाथ से बाहर निकाल कर अपना बलिदान करने का भी इसने वर्णन किया है। एक तीसरे व्यक्ति का मुल्तान के मंदिर में अपने शरीर पर तैल और रूई लपेट कर जलने और अपनी बलि देने का रोमांचकारी दृश्य चित्रित किया है।

मूर्तिपूजा का अंधविश्वास, इस आर्यजाति को कहाँ से कहाँ ले पहुँचा, इसकी साक्षी में दिये गये उपरोक्त उद्धरण से अधिक और क्या कहा जा सकता है? साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के उन्माद में मनुष्य क्या नहीं कर सकता, इसके जीते-जागते उदाहरण और क्या हो सकते हैं?

जिन अरब यात्रियों के उद्धरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे तथा इसी प्रकार अन्य विवरणों से मूर्तिपूजा के इतिहास पर एक और

प्रकाश पड़ता है। इन यात्रियों ने, जिनका समय प्रायः ६वीं शताब्दि से लेकर ११वीं शताब्दि तक आंका जाता है, हिन्दुओं के जिन विभिन्न धार्मिक विश्वासों तथा प्रचलित मूर्तियों का उल्लेख किया है उनमें विष्णु की मूर्ति अथवा वैष्णव सम्प्रदाय के आधारभूत अवतारवाद के सिद्धान्तों का कहीं विशेष वर्णन नहीं है। इससे सिद्ध है कि वैष्णव सम्प्रदाय और उसके अवतारवाद का जन्म, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों से कहीं पीछे का है। अथवा उस समय उसका पश्चिमोत्तर भारत में विशेष प्रचार नहीं था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उस समय का सूर्य देवता ही आगे चलकर विष्णु बन गया क्योंकि वेद मंत्रों में सूर्य के लिए भी अनेक स्थानों पर 'विष्णु' शब्द का प्रयोग हुआ है। विष्णु पुराण अध्याय १५ अंश प्रथम में सूर्य के द्वादश नामों में प्रथम नाम 'विष्णु' लिखा है।

तत्र विष्णुश्च शुक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च।
अर्य्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ॥ १३१
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः ॥ १३२

विष्णु, शुक्र, अर्य्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और भग ये द्वादश नाम सूर्य के हैं।

—:o:—

अन्य प्रमाणों के लिये पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ कृत "त्रिदेव-निर्णय" पुस्तक देखिये।

मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (२)

मुहम्मदगौरी के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यहाँ तीन वर्ष से अधिक समय तक पठानों ने राज्य किया। उन्होंने भी अगणित तीर्थ और मन्दिर विध्वंस किये। विना राजाज्ञा प्राप्त किये कोई तीर्थयात्रा नहीं कर सकता था। मुस्लिम धर्म विधान के अनुसार प्रत्येक हिन्दू से जज़िया लिया जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने हाँसी, दिल्ली, मेरठ, कोयल, रणथम्मौर, अजमेर, ग्वालियर, कालिञ्जर पर आक्रमण किये। हज़ारों मन्दिरों को विध्वंस किया और लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया।

कुतुबुद्दीन के गुलाम मुहम्मद इब्नेबख्त्यार ने बिहार और बङ्गाल पर चढ़ाई की। मार्ग में विश्वनाथ महादेव की सुरक्षित नगरी में हज़ारों मन्दिरों को विध्वंस किया। बिहार के एक बौद्ध विद्यापीठ और पुस्तकालय को जिसमें १२ सहस्र भिक्षु रहते थे जलाकर भस्म कर दिया और समस्त भिक्षुओं के शिर उड़ा दिये गये। कुछ दिनों पश्चात् अल्तमश ने उज्जैन पर आक्रमण किया और महा काल के मन्दिर को विध्वंस कर करोड़ों की सम्पत्ति लूटली। इसी प्रकार तीनसौ वर्ष तक हिन्दुओं का विनाश होता रहा।

इन्हीं पठानों के राज्यकाल में अफ़गानिस्तान से तैमूर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसने अपने सैनिकों को बुला कर

कहा—"आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान के आदमी मूर्तिपूजक हैं और सूर्य की पूजा करने वाले काफिर हैं। खुदा और रसूलेखुदा की आज्ञा है कि ऐसे काफिरों को कत्ल करो। मेरा विचार हिन्दुस्तान पर जहाद की चढ़ाई करने का है। इस पर सब लोग 'आमीन अल्लाह' चिल्ला उठे और १३८६ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। यह जहाँ हो कर जाता नगरों ग्रामों को लूटता, उनमें आग लगाता, निरपराध नर-नारियों को कत्ल करता और बन्दी बनाता था। भटनेर में उसने एक घंटे में दश सहस्र हिन्दुओं को मरवा डाला। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उसके पास दो लाख बन्दी हो गये। अतः उसने आज्ञा दी कि पन्दरह वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुष कैदी कत्ल करा दिये जाँय। ऐसा ही किया गया। रक्त की नदी बहने लगी। पाँच दिन तक देहली में लूट, नरहत्या, सतीत्व नाश का अखण्ड राज्य रहा। लाखों हिन्दू मार डाले गये। दिल्ली से मेरठ पर आक्रमण किया और पचास हजार स्त्री-पुरुष कत्ल कर दिये और असंख्य जवान स्त्री-बच्चे बन्दी बना लिये गये। प्रत्येक सैनिक के पास बीस से सौ तक कैदी आये। यहां से वह हरिद्वार गया। वहां एक पर्व था, यात्रियों की बड़ी भीड़ थी। मेले में उसने कत्ले आम की आज्ञा देदी। गङ्गा का जल रक्त से लाल हो गया। मन्दिरों की क्या दुर्दशा हुई होगी इसका पाठक स्वयं अनुमान लगालें। वह लूट मार करके काबुल लौट गया। वह यहां से इतना धन ले गया कि आठ वर्ष तक उसकी सेना को समय से पूर्व ही वेतन प्राप्त हो जाता था।

अब समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत मुसलमानों के आधीन था। हिन्दू जाति नष्टप्रायः हो चुकी थी। उसमें प्रतिरोध-शक्ति का सर्वथा अभाव था। जहाँ एक-एक सैनिक जिस जाति के

सौ-सौ मनुष्यों को बन्दी बना कर अपने वश में रख सकता हो, क्या उसे मनुष्य कहा जा सकता है ? सौ तो भेड़ बकरी भी एक व्यक्ति के वश में सरलता से नहीं रह सकतीं।

एक समय आया कि पठान राज्य भी नष्ट हुआ और इस देश के विधाता मुग़ल बने। अकबर जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य काल में इस्लामी मदान्धता में कुछ कमी आ गई। इन्होंने हिन्दू मुसलमानों के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न किया। इनका राज्य-विस्तार भी सुदूर दक्षिण को छोड़ कर समस्त भ रत में हो चुका था। किन्तु फिर भी राज्य व्यवस्था में बहुत कुछ मुस्लिम विधान का ही दौर दौरा था। यह सब कुछ होते हुए भी यह समय बहुत अंशों में शान्ति का समय था। इस काल में भी हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता थी, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राज्याधिकारी प्रायः मुसलमान ही थे और प्रत्येक मुसलमान धर्म प्रचार अपना कर्त्तव्य समझता है, अतः हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की उनसे आशा रखना व्यर्थ था। हिन्दुओं की दशा पूर्व से कुछ अच्छी थी। हिन्दुओं की दशा पूर्व से कुछ अच्छी थी किन्तु फिर भी दास दास ही है।

शाहजहाँ को बन्दी बना कर औरङ्गजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। काशी पहुँच कर उसने पण्डितों को आज्ञा दी कि सब प्रकार का पठन पाठन बन्द कर दिया जाय। प्रसिद्ध प्रसिद्ध मन्दिरों को तुड़वा कर उसने मस्जिदें बनादी। विश्वनाथ महादेव की मूर्ति को पुजारियों ने तोड़े जाने के भय से एक कुएं में डाल दिया। इस समय भी मन्दिर के स्थान पर मस्जिद खड़ी है। मथुरा में भी उसने यही किया और हजारों

ाई मस्जिद
इसने प्रत्येक
मन्दिर ढहा
बन्द कर दी
को इसने
जज़िया लेना
की शान्ति

क्षुब्ध हो
चार सहन
ए। पञ्जाब
सैनिक शक्ति
कर दिया।
ाण में मर
ा की ओर

ुष्ट करने की
पश्चिमोत्तर
क्षिण भारत
लिया और
। हिन्दुओं
का अवसर
ा वे आज

भी मुक्त नहीं हैं, इनके मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी हुई और वे जहाँ के तहाँ ही रह गये।

सातवीं शताब्दि के प्रारम्भ से लेकर सतरहवीं शताब्दि

सौ-सौ मनुष्यों को बन्दी बना कर अपने वश में रख सकता हो,

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

भेड़ बकरी भी
।
हुआ और इस
और शाहजहाँ के
गई। इन्होंने
रने का प्रयत्न
को छोड़ कर
ज्य व्यवस्था में
यह सब कुछ
समय था।
, यह नहीं कहा
न ही थे और
मझता है, अतः
आशा रखना
थी। हिन्दुओं
भी दास दास

ल्ली के सिंहासन
हिन्दुओं को घृणा
ने पण्डितों को
र दिया जाय।
स्जिदें बनादी।
ड़ जाने के भय
र के स्थान पर
और हजारों

हिन्दुओं को कत्ल कर दिया। औरङ्गजेब की बनाई मस्जिद आज भी ठीक मथुरा के बीचों बीच विद्यमान है। इसने प्रत्येक प्रान्त के शासक को आज्ञा पत्र भेजा कि समस्त मन्दिर ढहा दिये जायँ, मूर्तियाँ तोड़ दी जायं, और पाठशालायें बन्द कर दी जायं। कुरुक्षेत्र के मेले में जाकर लाखों हिन्दुओं को इसने अकारण ही कत्ल कर दिया। हिन्दुओं से इसने जज़िया लेना भी फिर से प्रारम्भ कर दिया। इस तरह कुछ समय की शान्ति के पश्चात् हिन्दुओं का पुनः विनाश होने लगा।

औरङ्गजेब के अत्याचार से फिर एक बार हिन्दू क्षुब्ध हो गये और लगभग पाँच सौ वर्षों तक घोर अत्याचार सहन करने के पश्चात् मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुए। पञ्जाब में गुरु गोविन्दसिंह, और दक्षिण में शिवाजी ने सैनिक शक्ति संगठित करके औरङ्गजेब का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में औरङ्गजेब बुड्ढा होकर लड़ते-लड़ते दक्षिण में मर गया। और इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य भी विनाश की ओर अग्रसर होने लगा।

औरङ्गजेब के उत्तराधिकारियों ने प्रजा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की किन्तु सब विफल हुई। सिक्खों ने पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। मध्य और दक्षिण भारत में राजपूत और मराठों ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मुग़ल राज्य केवल दिल्ली के इर्द गिर्द ही रह गया। हिन्दुओं को फिर एक बार सङ्गठित होकर स्वाधीन होने का अवसर मिला किन्तु इनकी आन्तरिक विभिन्नताएं जिनसे वे आज भी मुक्त नहीं हैं, इनके मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी हुईं और वे जहाँ के तहाँ ही रह गये।

सातवीं शताब्दि के प्रारम्भ से लेकर सतरहवीं शताब्दि

के अन्त तक का संक्षिप्त लोमहर्षी इतिहास, मूर्तिपूजा द्वारा उत्पन्न हमारी मानसिक दुर्बलता, और इसी दुर्बलता के कुपरिणामस्वरूप हिन्दू जाति के सामाजिक और राष्ट्रीय अधः पतन का भली भाँति दिग्दर्शन कराता है।

पन्द्रहवीं शताब्दि तक योरुप में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी। वहाँ के ईसाई रोमन कैथोलिक मूर्ति पूजक थे, और पोप और मौङ्कों की ठीक वही अवस्था थी जो यहाँ महन्तों और पुजारियों की। योरुप की घोर दुरवस्था थी। नवीं शताब्दि में अरब के मुसलमानों ने समस्त योरुप को रौंद डाला और एक वार वहाँ भी गिरजों का विध्वंस किया गया। लाखों ईसाई तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु योरुप में सोलहवीं शताब्दि में एक घोर धार्मिक क्रान्ति हुई। मार्टिन लूथर ने प्रोटस्टैण्ट ईसाई धर्म को जन्म दिया, जिससे ईसाई धर्म की मूर्तिपूजा, पोप और महन्तों के दुष्कर्म सभी भस्म हो गये। योरुप के वर्तमान उत्थान का सूत्रपात इसी समय से प्रारम्भ होता है। सत्य तो यह है कि जो जाति ईश्वर से विमुख होकर मूर्ति आदि जड़ जगत् को अपना उपास्यदेव मान बैठती है उसे सदा इसी प्रकार अन्धकार में पड़कर घोर यातनाएं सहनी पड़ती हैं। हिन्दू जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस मूर्तिपूजा का उसे कितना भारी मूल्य चुकाना पड़ा। बार बार हिन्दू मंदिरों को विध्वंस किया गया, मूर्तियां तोड़ी गईं, और उन्हें मस्जिदों और महलों की सीढ़ियों तक में लगाया गया। तीर्थ स्थानों का असंख्य धन लूटा गया, करोड़ों निरपराध हिन्दुओं को उसके लिये अपना जीवन तक देना पड़ा। परन्तु फिर भी पुराने मन्दिरों के स्थानों पर नये मंदिर बना दिये गये। टूटी हुई मूर्तियों के स्थान पर नवीन

मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गई। उजड़े तीर्थ-स्थान पुनः बसा दिये गये। क्या मूर्तिपूजा में वास्तव में ऐसा ही आकर्षण है? क्या इसमें इतनी आध्यात्म शान्ति है कि उसके विना इस जाति का कार्य चल ही नहीं सकता? सत्य तो यह है कि इनमें से इसमें एक भी बात नहीं है। इन सब की तह में वही व्यवसाय बुद्धि कार्य कर रही है जो एक व्यापारी को वार वार हानि उठाने पर भी अपने कारोबार को नये सिरे से करने के लिये प्रेरित करती रहती हैं।

इन मूर्तियों के बल पर मंदिर, और मंदिरों के बल पर तीर्थ स्थान अपना व्यापार चला रहे हैं। इनसे महन्तों को लाखों की आय है। पुजारियों को वेतन और खाने को मोहन भोग मिलते हैं। पण्डों के यात्रियों के आगमन से पौ बारह हैं। व्यापारियों की यात्रियों के द्वारा क्रय विक्रय से दूकान चलती हैं और राज्य को कर की आय है। यात्रा से लौट कर बड़े बड़े ब्रह्म भोज, दान दक्षिणा सभी इस मूर्तिपूजा की देन हैं। फिर बताइये उसे जीवित न रक्खा जाय तो क्यों न रक्खा जाय? इसीलिये यह चक्र लगभग पन्दरह सौ वर्ष से यहाँ निरन्तर चल रहा है।

हिन्दू जाति की इस दुर्दशा को देख कर, मुस्लिम काल में, अनेक सन्तों ने इस मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज़ उठाई। पञ्जाब में गुरु नानक ने हिन्दुओं को इस अन्ध-विश्वास से मुक्त करने का भारी प्रयत्न किया। इनके पश्चात् अनेक सिक्ख गुरु भी मूर्तिपूजा की उसी प्रकार आलोचना करते रहे। गुरुओं की वाणी को गुरु ग्रंथ साहब में संग्रह किया गया है। हम उसके मूर्तिपूजा विषयक कुछ स्थल अगले पृष्ठ पर देते हैं:

पाथर ले पूजहि मुगध गँवार।
ओहिजा आपि डूबे तुम कहा तरन हार ।।
बुत पूज पूज हिन्दू मुये तुरक मुये सिरुनाई।
ओह ले जारे ओह ले गाड़े तेरी गति दुहू न पाई।।
पूजि शिला तीरथ बनवासा।
भरमत डोलत भये उदासा।।
घरमहि ठाकुर नदरि न आवै।
गलमहि पाहणु लै लटकावै।।
जिस पाहन कउ ठाकुरु कहता।
ओहु पाहणु लै उस कउ डुबता।।
गुनहिगार लूण हरामी। पाहणनाव न पार गिरामी।।

गुरु गोविंदसिंह जी दशम ग्रंथ में मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखते हैं:—

१—इक बिनु सौन चिनार।
भञ्जन गड़न समर्थ सदा प्रभु जानत है करतार ।।
कहा भयो जो अति हित चित कर बहु विधि शिला पुजाई।
पान थक पाहन कहि परसत कछुकर सिद्ध न आई।।
अछत धूप दीप अरपत है पाहन कछु न खइ है।
ताँ में कहाँ सिद्ध है रे जड़ तोहि कछू वर दैहै।।
जो जिअ होत देत कछु तुहि मन वचन कर्म विचार।
केवल एक शरण स्वामी बिन यों नहिं कतहि उधार।।
२—काहूँ लै पाहन पूजि धरयो सिरका हूँ लै लिंग गरे लटकयो।
काहूँ लखयो हरि आवाची दिशा महि काहू पछाह को शीश निवायो।।
कोऊ बुताने को पूजद है पसु कोऊ मृतान को पूजन धायो।
क्रूर क्रिया उरझयो सभ ही जग श्री भगवान् को भेद न पायो।।

गुरु ग्रंथ साहब में भक्त कबीर की वाणी का भी संग्रह किया गया है। कबीर साहब ने बड़े कड़े शब्दों में मूर्तिपूजा की आलोचना की है। उन्होंने अपनी साखियों में लिखा है:—

१—पाती तोरे मालिनी पाती पाती जीऊ।
जिस पाहन को पाती तारै सो पाहन निरजीऊ॥
पाषाण गढ़ि के मूरति कीनी देकै छाती पाउ।
जे एह मूरति साची है तउ गढनहारे खाउ॥
भातु पहिति अरु लापसी करकरा कासारू।
भोगन हारे भोगिया इसु मूरति के मुख छारु॥

२—जो पाथरु को कहते देव। ताकी वृथा होवे सेव॥
जो पाथरु की पाई पाय। तिसकी थाल अंजाई जाय॥
अन्तरि देव न जानै अन्धु। भ्रम का मोहिआ पावै फन्धु॥
न पाथर बोलै ना किछु देई। फोकट कर्म निष्फल है सेव॥
जो मृतक को चन्दन चढ़ावै। उसते कहहु कवनि फल पावै॥
जो मृतक को विष्टा माहि रुलाई। तां मृतक का क्या घटि जाई॥
कहत कबीर हौ कहहहुँ पुकार। समझ देख साकत गवार॥

३—देवी देव पुजहि डोलहि पारब्रह्म न जाना।
कहत कबीर अकलु नहिं चेतिआ विषया सिउ लिपटाना॥

४—पाथर पूजे हरि मिले तो हम पूजें पहार।
या पाथर से चक्की भली जो पीस खाई संसार॥

दादू कबीर के शिष्य थे। इन्होंने भी कबीर की भान्ति मूर्तिपूजा की आलोचना की और उसका विरोध किया। दादू कहते हैं:—

पत्थर पीवे धोईकै पत्थर पूजे प्रान।
अन्तकाल पत्थर भये भव डूबे अज्ञान॥

एक और प्रसिद्ध सन्त मलूकदास अकबर के समय में हुए हैं उन्होंने भी मूर्तिपूजा तीर्थयात्रा आदि का खण्डन किया।

सत्य नामी सम्प्रदाय के संस्थापक वीरभान दादू के समकालीन थे। उन्होंने सत्य-नामियों के "आदि उपदेश" में '१२ हुकम' दिए हैं जिनमें पहिले हुकम में वे लिखते हैं:—

'केवल एक ही ईश्वर को मानो। मिट्टी, पत्थर, लकड़ी या और किसी बनी हुई चीज़ की पूजा न करो।' इसी प्रकार अपने आठवें हुकम में उन्होंने लिखा है कि किसी मूर्ति के सामने सिर मत झुकाओ।

औरङ्गज़ेब के समय में प्राणनाथ एक गुजराती सन्त हुए हैं। इन्होंने भी मूर्तिपूजा का विरोध किया।

एक अन्य सन्त चरनदास भी मूर्तिपूजा के विरोधी थे। रामसनेही सम्प्रदाय के संस्थापक रामचरन ने भी मूर्तिपूजा की आलोचना की है।

सन्त नामदेव के गुरु खेचर ने नामदेव को जो उपदेश दिया उससे सिद्ध है कि वे भी मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कहा है:—

पत्थर का देवता कभी नहीं बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवन के दुःखों को कैसे दूर कर सकता है ? पत्थर की मूर्ति को लोग ईश्वर समझ बैठते हैं, किन्तु सच्चा ईश्वर बिल्कुल दूसरा ही है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छायें पूरी कर सकता तो गिराने पर वह टूट क्यों जाता ? जो लोग पत्थर के बने हुए देवता की पूजा करते हैं वे अपनी मूर्खता से सब कुछ खो बैठते हैं। जो लोग यह कहते हैं और जो यह सुनते हैं कि पत्थर का देवता अपने भक्तों से बातचीत करता है, वे दोनों मूर्ख हैं। भक्त रैदास ने भी अपने उपदेशों में मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध किया है।

महाराष्ट्र प्रान्त में तीन प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सन्त तुकाराम, समर्थगुरु रामदास तथा सन्त ज्ञानेश्वर। इन सन्तों ने भी मूर्तिपूजा और अवतारवाद का पर्याप्त खण्डन किया है।

सन्त तुकाराम मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में बड़े दुःख से कहते हैं:—

ज्यानें देहासि निर्मिलें, जीव त्याने वसरले।
ज्याच्चा सत्तेने वर्तती, मूढ़ त्याने न जाणती।
जैसे गर्भान्ध जन्मती, आपूल्या मातेला नेणती।
तैसे नेणूनी चेतन, पूजिदगड़ अचेतन॥

जिस प्रभु ने कृपा करके जीव के लिए मनुष्य देह को बनाया, जीवने उस प्रभु को भी विसार दिया। जिस प्रभु की सत्ता से ही प्राणिमात्र अपना अपना व्यवहार कर रहे हैं मूढ़ लोग उस प्रभु को नहीं देख सकता। वैसे अज्ञानी लोग चेतन प्रभु को न जानकर अचेतन पत्थर आदि की पूजा करते हैं। सन्त तुकाराम आगे फिर लिखते हैं:—

ज्यांला टाकिने फोडिती, त्याच्या पुढे हाथ जोडिती।
ज्यांच्या शोच कूप घडविती, त्याला देव ठरविती॥
पूजा उपचार अर्पिती, अत्यादरे नमस्कारिती।
परीतो ऐके बोले न पाहे, मूढ़ त्यासी मानि ताहे॥

अर्थात् ये मूर्तिपूजक मूर्ति बनाते समय इस पत्थर को हथौड़े से घड़ते तथा फोड़ते हैं, फिर उसी मूर्ति के सामने हाथ जोड़ते हैं। जिस पत्थर को भगवान कहकर उसकी पूजा उपचार करते हैं, उसके आगे बड़े आदर से हाथ जोड़ते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि वह पत्थर न तो सुनता है न बोलता है और न देखता है किन्तु मूढ़ लोग उसे ही परमेश्वर मान रहे हैं।

सन्त तुकारामने मूर्तिपूजा की आधुनिकता का वर्णन निम्न शब्दों में किया है:—

दगड़ाचे देव पूर्वी नन्हते जाणु, जनहें अज्ञान झाले जेन्हा।
जनहे अज्ञानी दगड़ा मानिले, गुरुसि त्यागले मूढ़ पणे।

हे मनुष्यो! तुम यह निश्चय समझो कि प्राचीन समय में पत्थरों के देव नहीं हुआ करते थे। जब लोग अज्ञानी बन गए उन अज्ञानी लोगों ने पत्थरों को मानना प्रारम्भ करदिया और अपनी मूर्खता से सच्चे गुरु को त्याग दिया। पाँच चेतन मूर्तियों की पूजा ही सच्ची मूर्तिपूजा है। इसका उल्लेख उन्होंने निम्न शब्दों में किया है:—

माता पिता आचार्य अतिथि गुरु सचेतन मूर्ति।
त्याला शरण तूँ जावसी, तरी च कल्याण पावसी॥

हे जीव! माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु यही पाँच चेतन मूर्तियाँ हैं। इनकी ही यदि तू शरण में जायगा तभी तेरा कल्याण होगा। सन्त तुकाराम अवतारवाद का भी निम्न शब्दों में खण्डन करते हैं:—

नाहीं रूप नाहीं नाव नाहीं ठांव धरायां।
जेथे जावे तेथे आहे विट्ठल मायबहिन॥

अर्थात् परमेश्वर ने न तो कोई रूप धारण किया, न ही कोई नाम रखाया और न कहीं जन्म लिया। वह मेरी सच्ची माता बहिन तो जहाँ जावें वहीं रम रहीं हैं। एक स्थान पर भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुए वह कहते हैं:—

ऐसा चेतन निराकार त्यासी कल्पिती आकार।
परिपूर्ण अविनाश, त्यासी मानिती विनाश॥
अव्यक्तासी व्यक्ति, मानुनी करी स्थूल भक्ति।
तोचे मूढमति नर, व्यर्थ जन्म ले पामर॥

मूढ़ लोग ऐसे चेतन निराकार प्रभु के भी आकार की कल्पना करते हैं। अर्थात् उस निराकार प्रभु को अवतार आदि मानकर उसे साकार बनाते हैं। और जो प्रभु सबमें परिपूर्ण और अविनाशी है उसका भी नाश मानते हैं। उस अव्यक्त प्रभु को व्यक्ति मानकर उसके स्थूल आकार अर्थात् मूर्ति आदि की पूजा करते हैं। संसार में ऐसे लोग मूढ़ और पामर हैं। उन्होंने व्यर्थ ही जन्म लिया है।

छत्रपति शिवाजी के समर्थ गुरु रामदास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ दासबोध में ईश्वर को सर्वान्तर्यामी समझ प्राणि-मात्र की सेवा करने और परमेश्वर के पवित्र नाम के जप करने को ही ईश्वर की सच्ची भक्ति बताकर आगे लिखते हैं:—

सहज सोड्डनि सायास, हाचि कोणी एक दोष।
आत्मा सोड्डनि अनात्म्यास ध्यानी धरती ॥
परितो धरिता हि धरेना ध्यानि येती व्यक्ति नाना।
उगेचि कष्टविती मना कासा वीस करनी।
मूर्ति ध्यान धरिता सायासे, तेथें एक चि एक दिसे भासों
नये तेचि भासे, विलक्षण ॥

अर्थात् मनुष्यों के अन्दर यही भारी दोष है कि वे परमेश्वर के उपर्युक्त सरल ध्यान को छोड़ कर अनात्मा अर्थात् जड़ मूर्ति का ध्यान करने लग जाते हैं। किन्तु वास्तव में मूर्ति के द्वारा परमेश्वर का ध्यान कर ही नहीं पाते। क्योंकि मूर्ति का ध्यान करते समय इनको अनेक प्रकार की मूर्तियां दीखने लगती हैं, जो कि उपासक के मन को डावाँडोल कर व्यर्थ ही में उसे उल्टा कष्ट देने का कारण बनती हैं।

उपासक को कष्टसाध्य मूर्ति का ध्यान करते समय कुछ और का और ही दीखने लग जाता है। जिसका उस समय

भान भी नहीं होना चाहिये वह भी होने लगता है जो कि उपासक के मन को चञ्चल और दुःखी बना देता है।

अवतारवाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचारों को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है:—

देवास देह धारी कल्पिती, तेथे नाना विकल्प उठती।
भागणे त्यागने विपत्ति, देह योगे॥
(दास बोध दशक १४ समास ८)

अर्थात् मूर्तिपूजकों के सन्मुख जहाँ अन्य बहुत सी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, वहाँ उन्हें परमेश्वर को भी देह-धारी कल्पना करना पड़ता है। उस समय उनके मन में अनेक विचार उठने लगते हैं। यदि परमेश्वर ने देह धारण की होगी ता देह योग के कारण वह भोग, त्याग और विपत्ति में भी फँसा होगा। इसी दासबोध में एक स्थल पर लिखा है:—

धातु पाषाण मृत्तिका, चित्रलेख काष्ठ रेखा।
तेथे देव कैंचा मूर्खा, भ्रान्ति पडली॥

हे मूर्ख! धातु पत्थर मिट्टी चित्र और काष्ठ में परमेश्वर कहां है? तू भ्रम से उनकी पूजा में लगा है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के ऊपर "ज्ञानेश्वरी" नाम का महाराष्ट्र की "ओवी" नाम की कविता में भाष्य किया है जो कि बहुत ही प्रसिद्ध है। अन्य कई भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ है। उसमें गीता के—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इस श्लोक का भाष्य करते समय मूर्तिपूजा आदि के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर भावों को दर्शाया है। जिसके कुछ अंश निम्न प्रकार हैं:—

जैसा कृत निश्चय वायां गेला, जैसा कोणीं काँजी प्याला। मज परिणाम पाहोंला गला अमृताचां, तैसे स्थूलकारि नाशीवंते, भरवंसा बान्धोनि चित्ते।

पाहती मज अवि नाशातें, तरी केचा दिसे।

जैसे कोई काँजी पीकर अमृत का फल प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार जो नाशवान् मूर्ति आदि स्थूल पदार्थों में अपने चित्त को उन्हें ईश्वर समझ कर लगाते हैं और उस अविनाशी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनका प्रयास भी विफल ही जाता है। इसी प्रकार आगे अवतारवाद का खण्डन करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है:—

गंव आकार एक पुढ़ा देखती, तवं हा देव येणें भांवें भजती।
मगतोचि विगडलिया टांकिती, नांहीं म्हणोनि।

यह मूर्तिपूजक जब भी कोई पत्थर आदि का आकार सामने देखते हैं तभी यह परमेश्वर है ऐसा समझ कर पूजा करने लगते हैं। और जब वही आकार किसी प्रकार से बिगड़ जाता है तो ये ईश्वर नहीं है ऐसा कहकर उसे फैंक देते हैं।

इसी भांति लिङ्गायत सम्प्रदाय के सन्त वशवेश्वर कहा करते थे:—एक ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा देवता नहीं है। छोड़ो! छोड़ो! अन्य देवी देवताओं का विचार करना भी पाप है। एक परमेश्वर के सिवाय अन्य देवों का स्मरण करना व्यभिचार है। एक ईश्वर ही हमारा पूज्य है। जब शरीर ही मन्दिर है तो दूसरे मन्दिर की आवश्यकता क्या है? कहीं कोई बर्तन देवता है, कहीं कोई वृक्ष देवता है, कहीं गली में पड़ा हुआ पत्थर देवता है। मित्रो, देखो! इन असंख्य देवताओं के कारण कहीं खड़े होने को स्थान नहीं रहा। मेरी बात पर विश्वास करो। देवता केवल एक ही है, और वही हमारा सब का परमेश्वर है।

दक्षिण भारत के सब से बड़े योगियों में से एक शिवाक्किवर हुये हैं। उन्होंने लिखा है:—

नट्ट कल्लै दैव मेन्रु वालु पुष्पं सात्तिये,
सुत्तिवन्दु मोन मोनेन्रु सोल्ल मंत्र मेतडा ।
नट्ट कल्लम् पेसुमो नाद नुल्लि रुक्कै यिल्
सुट्ट सट्टि सट्टुवम् करिच्चुवै यरि युमो ॥

मंत्र पढ़ते हुए मूर्ति की परिक्रमा करने से क्या लाभ जब परमात्मा स्वयं हमारे अन्दर विद्यमान है ? जिस पात्र में हम भोजन पकाते हैं वह पात्र उस भोजन का स्वाद नहीं जानता । जिस मूर्ति की मनुष्य ने स्थापना की है वह बोलती तक नहीं ।

दक्षिण भारत के एक तामिल आचार्य माणिक्कवाचकर ने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है:—

कल्लिलुम् शेमिबलुमो इरुधान एङ्ग लृकण्णुतले ।

क्या ईश्वर जो आँख की पुतली की तरह प्रिय है, वह पत्थर अथवा धातु को अपना निवासस्थान बना सकता है ?

मुसलमानों द्वारा मन्दिरों तथा मूर्तियों के निरन्तर विध्वंस के कारण न केवल विवेकी हिन्दूसमाज अपितु जनसाधारण भी पौराणिक धर्म के बहु ईश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगा था। ऊपर दिये गये सन्तों के उद्धरण उस विचारधारा का जो उस समय देश में बह रही थी, एक सुस्पष्ट प्रमाण है। इन सन्त मतों का भी उस समय देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सिक्खों का शक्ति संग्रह और महाराष्ट्र के तत्कालीन उत्कर्ष में इनका अच्छा हाथ था। सम्भव है कि उस समय के हिन्दुओं का इतिहास कुछ भिन्न प्रकार से ही लिखा जाता, किन्तु एक हज़ार वर्ष के मुस्लिम अत्याचारों से पददलित हिन्दू अभी भली प्रकार संभलने भी न पाया था कि पश्चिम की योरुपीय जातियों का यहाँ पदार्पण हो गया। उनकी कूटनीति ने हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्ति को पुनः

सङ्गठित होने का अवसर न दिया। कदाचित् हिन्दुओं को अपने अवशेष पापों का फल अभी और भोगना था !

एक बात यह भी थी कि प्रायः यह समस्त सन्त, भक्त और महात्मा उच्च कोटि के विद्वान् न थे यह प्रायः न केवल प्राचीन वैदिक संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे अपितु इन में से बहुत-से तो संस्कृत भाषा भी नहीं जानते थे। इन्हें वैदिक एकेश्वरवाद और उपासना विधि का भी पूरा ज्ञान नहीं था। इन में न महात्मा बुद्ध की-सी तपस्या थी और न शङ्कर स्वामी जैसा पांडित्य था जो भारतीय विचारों को प्रभावित करता। अतः इनका प्रभाव सीमित ही रहा। किन्तु फिर भी इन्होंने अपनी शक्ति और सामर्थ्यानुसार उस समय अच्छा सुधारकार्य किया।

——:०:——

मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधारकाल

मुस्लिम सत्ता के पतन और अंग्रेजी राज्य स्थापना के मध्य फिर इस देश में एक वार उथल-पुथल हुई। परन्तु शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई। अंग्रेजों द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा में लगभग एक हज़ार वर्ष के पश्चात् हिन्दुओं को धर्म के विषय में पुनः सोचने-समझने का अवसर दिया। योरुपीय जातियों के आगमन के साथ-साथ ईसाई पादरियों का भी इस देश में पदार्पण हुआ। मुग़ल साम्राज्यों के समय में ही इन्होंने किसी-न-किसी रूप में अपना प्रचारकार्य प्रारम्भ कर दिया था। इनका कार्यक्षेत्र आरम्भ में दक्षिणीय तट पर स्थित प्रान्त ही थे और सवर्ण हिन्दुओं से पीड़ित असवर्ण जातियां ही स्वभावतः उनके प्रभाव में आईं।

अंग्रेजों के राज्यारूढ़ होते ही योरुप के अनेक ईसाई मिशनों ने समस्त भारत में अपने प्रचार-केन्द्र स्थापित कर दिये। उन्होंने स्थान-स्थान पर मिशन स्कूल खोले, और अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के साथ ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता में यहां के युवकों को दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। राज्य की ओर से ईसाई-धर्म-प्रचार में कोई सीधा सहयोग तो नहीं था, किन्तु मिशन स्कूलों और अस्पतालों को राज्य की ओर से मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता दी जाती थी। परिणामस्वरूप इन शिक्षणालयों द्वारा अप्रत्यक्षरूप से हिन्दू शिक्षित समाज धीरे

धीरे ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा। बहुत से युवक ईसाई होगये और बहुत से ईसाई धर्म की विशेषता और हिन्दू धर्म, जो केवल पौराणिक रूढ़ियों का एक पिञ्जरमात्र था, की हेयता का अनुभव करते थे। पौराणिक धर्म का सबसे निर्बल मर्मस्थान मूर्तिपूजा ही इन पादरियों का प्रहार केन्द्र था।

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहन राय ने इस नई आपत्ति का अनुभव किया और ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने हिन्दू जाति को मूर्तिपूजा के अन्ध विश्वास से निकालने का भरसक प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय अरबी अंग्रेजी और संस्कृत के अच्छे पंडित थे। उन्होंने अपने लेखों में मूर्तिपूजा का विद्वत्तापूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन किया है। उनके तत्सम्बन्धी अनेक उद्धरण न देकर हम केवल दो, पाठकों के अवलोकनार्थ उपस्थित करते हैं:—

Many learned Brahmins are perfectly aware of the absurdity of idolatry, and are well informed of the nature of the pures mode of divine worship. But as in the rites, ceremonies, and festivals of idolatry, they find the source of comforts and fortunes, they not only never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it in the utmost of their power, by keeping the knowledge of their scriptures concealed from the rest of the people. Their followers too, confiding in these leaders, feel gratification in the idea of the Divine Nature residing in a being resembling themselves in birth, shape and propensities;

and are naturally delighted with a mode of worship agreeable to the senses; though destructive of moral principles, and the fruitful parent of prejudice and superstition."

(Works of Raja Rama Mohan Roy
Vol. I, p. 70)

बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्तिपूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की अधिक सङ्गत और शुद्ध विधि से भली भाँति परिचित हैं परन्तु मूर्तिपूजा सम्बन्धी परिक्रियायें और उत्सव उनके लिये प्रत्येक सुविधायें और धन उपार्जन के साधन प्रस्तुत करते हैं। अतः ये न केवल मूर्तिपूजा पर किये गये समस्त आक्षेपों का समाधान करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं अपितु अपनी सामर्थ्यानुसार उसके प्रचार और प्रोत्साहन में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इस कार्य सिद्धि के निमित्त वे धर्मशास्त्रों को भी सर्व साधारण से छिपाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इनके अनुगामी भी इन नेताओं में अन्ध श्रद्धा रखते हैं। वे इस विचार में ही परम सन्तोष का अनुभव करते हैं कि उन जैसे ही प्राणी में जो जन्म, आकृति और गुणों में उनके ही तुल्य है, दैवी शक्ति का निवास है और स्वभावतः उस पूजा विधि में ही सन्तुष्ट रहते हैं जो केवल उनकी ऐन्द्रिक सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उक्त विधि नैतिक सिद्धान्तों के लिये घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अन्धविश्वास की जननी है। राजा राममोहन राय अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखते हैं: —

"The ground which I took in all my controversies was, not that of opposition to Brah-

minism but to a perversion of it; and I endeavoured to show that the idolatry of the Brahmins was contrary to the practice of their ancestors and the principles of the ancient book and authorities which they profess to revere and obey."

"मैंने अपने समस्त विवादों में ब्राह्मण धर्म का विरोध नहीं किया, अपितु उसके विपरीत यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण धर्म की मूर्तिपूजा, उनके पूर्वजों, प्राचीन धर्म ग्रन्थ एवं उन प्रमाणों के विपरीत है, जिन्हें वे अपने लिये मान्य और आदरणीय समझते हैं।"

राजा राममोहन राय के पश्चात् ब्रह्मसमाज और उसके नेताओंने बङ्गाल प्रान्त में अच्छा सुधार कार्य किया। परन्तु राजा राममोहन राय के उत्तराधिकारी ब्रह्मसमाज के नेता नव आगन्तुक ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से न बच सके। फलतः ब्रह्मसमाज विशुद्ध भारतीय संस्कृति का पोषक न रहकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में वह गया और वह बंगाल से आगे न बढ़ सका।

महामान्य गोविन्द रानाडे के प्रार्थना समाज ने भी महाराष्ट्र में मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशंसनीय कार्य किया किन्तु उसकी दशा भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज की-सी ही होकर रह गई।

वह भी बम्बई प्रान्त के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक सीमित रहा और आज उसका नाम भी सुनने में नहीं आता। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज दोनों ने ही हिन्दू युवकों को ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव से रक्षा करने में सराहनीय कार्य किया। उसके लिये हिन्दू जाति, इन दोनों महापुरुषों की सदा आभारी रहेगी।

ठीक इसी समय जब देश धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति के तट पर खड़ा था और ईसाई धर्म पाश्चात्य देशों की संरक्षता में यहां अपने पैर फैला रहा था, एक तीसरे महापुरुष ने स्वामी दयानन्द के रूप में पदार्पण किया। इस महान् सुधारक में अन्य सन्त और महात्माओं से जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है कई विशेषताएं थीं। वह विशुद्ध भारतीय संस्कृति का उपासक था। उसकी समस्त शिक्षा-दीक्षा प्राचीन भारतीय शैली पर संस्कृत भाषा द्वारा हुई थी और उसके समस्त विचार भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत थे।

स्वामी दयानन्द को किस प्रकार बोध हुआ, यह भी हमारे प्रतिपाद्य विषय से गहरा सम्बन्ध रखता है। उस समय दयानन्द की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। वह अपने पिता के साथ एक शिवालय में शिवरात्रि का जागरण कर रहे थे। पिता तो निद्रा के वशीभूत होकर सो गये किन्तु दयानन्द जागते रहे। वहाँ जो घटना घटी उसका वर्णन स्वयं स्वामी दयानन्द के ही शब्दों में सुनिये:—

"जब मैं मन्दिर में इस प्रकार अकेला जाग रहा था तो घटना उपस्थित हुई। कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर दौड़ने लगे। और बीच बीच में महादेव पर जो चावल चढ़ाये गये थे उन्हें भक्षण करने लगे। मैं जागृत रह कर चूहों के इस कार्य को देखने लगा। देखते-देखते मेरे मन में आया कि ये क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा, जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृत्तान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव में यही हैं? इस प्रकार मैं चिन्ता से विचलितचित्त हो उठा।

मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त दैत्यदलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोड़े से चूहों को क्यों विताड़ित नहीं कर सकता ? इस प्रकार बहुत देर तक चिंता-स्रोत में पड़ कर मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। मैं आप ही अपने से पूछने लगा कि जो चलते-फिरते हैं, खाते-पीते हैं, हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं, डमरू बजाते हैं, और मनुष्यों को शाप दे सकते हैं. क्या यह वही वृषारूढ़ देवता हैं जो मेरे सामने उपस्थित हैं ?"

उपरोक्त घटना ने इस बालक के मूर्तिपूजा के विश्वास को हिला दिया। उन्होंने अपने पिता को जगा कर उनसे इस शङ्का का समाधान चाहा। परन्तु संतोष जनक उत्तर न मिलने पर वह उसी समय घर लौट आये, और व्रत भङ्ग करके भोजन कर लिया। इस साधारण घटना का अंत यहीं नहीं हो गया, इसने सच्चे शिव को जानने और उसका साक्षात् करने की लालसा को दयानन्द में जागृत कर दिया। और उन्होंने अपने समस्त जीवन को इसी खोज में लगा दिया।

एक दूसरी घटना ने उनमें महात्मा बुद्ध की भाँति वैराग्य की भावना उत्पन्न कर दी, जिसने उन्हें संसार से ही विरक्त कर दिया। उनकी बहिन और चाचा की जिन्हें वह बहुत प्रेम करते थे मृत्यु हो गई। दयानन्द कहते हैं:—"मैंने सोचा कि संसार की सभी वस्तुएं अस्थायी और चञ्चल हैं, तब ऐसी वस्तु कौन है जिसके लिये संसार में रह कर सांसारिक लोगों के समान जीवन यापन करूँ" उन्होंने ऐसा ही किया, जब उनकी अवस्था २०–२१ वर्ष की थी ठीक उस समय जब उनके पिता उन्हें विवाह-बन्धन में बांधना चाहते थे, दयानन्द ने सदा के लिये गृह का परित्याग कर दिया, और अपने शेष

जीवन को विद्याभ्यास, योग साधन, समाज सुधार और परोपकार में लगा दिया। उन्होंने विद्वानों और योगियों की खोज में भारत के कोने-कोने को छान डाला। जहाँ भी वह किसी योगी अथवा विद्वान् की उपस्थिति की सूचना पाते वह वहीं पहुँचते। इस अन्वेषण में उन्होंने भयानक वनों, पहाड़ों की कन्दराओं और हिमाच्छादित शिखरों की अनेक बार यात्रा की। लगभग १०, १२ वर्ष के तप और स्वाध्याय के पश्चात् दयानन्द का मथुरा के अद्वितीय विद्वान् नेत्रहीन दण्डी स्वामी विरजानन्द से साक्षात् हुआ। विरजानन्द उस समय अपनी विद्या के लिये समस्त उत्तरी भारत में 'व्याकरण सूर्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। जन्मान्ध होते हुए भी उनको अनेक शास्त्र कण्ठ थे। जिस श्लोक को एक बार सुन लेते थे उन्हें विस्मृत नहीं होता था। मथुरा में स्वामी विरजानन्द की एक संस्कृत पाठशाला थी, दयानन्द ने यहीं रहकर तीन वर्ष तक वेद-वेदाङ्ग तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। और अन्त में दण्डी विरजानन्द से गुरुदीक्षा लेकर अपनी शिक्षा समाप्त की। दयानन्द की अवस्था उस समय लगभग ३६ वर्ष की थी।

यदि दयानन्द का दण्डी विरजानन्द से साक्षात् न होता तो सम्भव था कि वह अपने शेष जीवन को योगाभ्यास और तपश्चर्या में लगा देते। किन्तु इसने दयानन्द के जीवनप्रवाह को ही बदल दिया। गुरुदक्षिणा में दयानन्द से दण्डी स्वामी ने यह एक विलक्षण प्रतिज्ञा चाही कि वह अपना समस्त जीवन आर्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करने और अनार्ष ग्रन्थों का खण्डन करने में लगा दें। विरजानन्द अनार्ष पौराणिक मतों के घोर विरोधी थे। किन्तु चक्षुविहीन होने के कारण वेद-प्रतिपादित प्राचीन आर्यधर्म का प्रचार करने में स्वयं असमर्थ

थे। अब उन्हें दयानन्द के रूप में एक ऐसा शिष्य मिल गया जिसके द्वारा वह अपनी मनोवाँछित इच्छापूर्ति कर सकते थे। दयानन्द ने उनकी आज्ञा के सन्मुख अपना शिर झुका दिया और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसे निभाया।

दयानन्द ने अपनी प्रगाढ़ विद्या और तपोबल से पञ्जाब से बम्बई तक और काठियावाड़ से बङ्गाल तक समस्त भारतवर्ष को हिला दिया। दयानन्द जहाँ कहीं गया उसने वहाँ के विद्वानों को वेदों से मूर्ति-पूजा सिद्ध करने के लिए आह्वान किया। उसने घूम घूमकर समस्त देश में सहस्रों व्याख्यान दिये और सैंकड़ों शास्त्रार्थ किये। दयानन्द की व्याख्यानशैली इतनी प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थी कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। उसका अकाट्य तर्क विपक्षी को नतमस्तक कर देता था! दयानन्द के तर्क और शास्त्रार्थ से घबराकर विरोधियों ने यहाँ तक कहना आरम्भ कर दिया कि दयानन्द को सिद्धि प्राप्त है। उसके सन्मुख जाकर कोई जय-लाभ नहीं कर सकता।

स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा पर अनेक शास्त्रार्थ किये और संस्कृत विद्या के गढ़ काशी को अपने विद्या बल और वाग्मिता से अनेक वार हिला दिया। विपक्षी या तो सन्मुख ही नहीं आते थे और यदि आते थे तो परास्त होकर शास्त्रार्थ को तिलाञ्जलि दे उद्दण्डता और असभ्य व्यवहार पर उतारू हो जाते थे। किन्तु ऐसे भी अनेक अवसर आये जब सत्यान्वेषी विपक्षी ने अपनी पराजय स्वीकार करली।

एक वार एक विद्वान् पण्डित ने यह प्रतिज्ञा करके स्वामी दयानन्द से मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ किया कि या तो वह

दयानन्द को पराजय करके उनके हाथों अपनी मूर्ति को भोग लगवा देगा या स्वयं पराजित होकर उनका मत ग्रहण कर लेगा। कई दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। अन्त में पण्डित ने अपनी पराजय स्वीकार करली और मूर्तियों को गङ्गा में बहा दिया। स्वामी दयानन्द के मूर्तिपूजा-खण्डन से प्रभावित होकर अनेक स्थानों पर लोगों ने अपनी अपनी देव मूर्तियां को गंगा में प्रवाहित कर दिया। स्वामी दयानन्द को अनेक प्रलोभन दिये गये कि यदि वह मूर्तिपूजा का खण्डन न करें तो उनको अमुक मठ की गद्दी दे दी जायगी अथवा उनको समस्त हिन्दू जनता अपना सर्वमान्य नेता स्वीकार कर लेगी। किन्तु उनका सदा यही उत्तर रहा कि; "मैं तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँ अथवा ईश्वरीय आज्ञा का पालन ?" उन पर अनेक वार आक्रमण किये गये, कई बार विष दिया गया, बहुत प्रकार की धमकियाँ दी गई किन्तु उन्होंने मूर्ति-पूजा के खण्डन में कोई समझौता नहीं किया। पादरी के० जे० लूकस ने जिसने स्वामी दयानन्द के व्याख्यान सन १८७७ ई० में फरुखाबाद में सुने थे और उन से भेंट भी की थी, बतलाया कि "वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध इतने बल, इतने स्पष्ट और विश्वास के साथ बोलते थे कि मुझे फरुखाबाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किये जाने पर आश्चर्य हुआ। मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुँह पर रख कर आपसे कहा जाय कि यदि तुम मूर्ति को मस्तक न झुकाओगे तो तुमको तोप से उड़ा दिया जायगा, तो आप क्या कहेंगे? स्वामी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा कि उड़ा दो।" दयानन्द इतने निर्भीक थे कि अनेकों मन्दिरों में ठहरते हुए

भी वह वहीं मूर्ति-पूजा की कड़ी आलोचना करते थे।

स्वामी दयानन्द का निश्चित मत था कि मूर्ति-पूजा आर्य जाति की समस्त त्रुटियों का केन्द्र है और वह कभी भी वेद शास्त्र प्रतिपादित नहीं है। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने मूर्ति-पूजा पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं :—

(१) जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह एक ऐसी बात है कि जैसे चक्रवर्ती राजा को एक राज्य की सत्ता से छुड़ा कर एक छोटी-सी झोंपड़ी का स्वामी मानना। देखो! यह एक कितना बड़ा अपमान है, वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

(२) जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका में पुष्प-पत्र तोड़ कर क्यों चढ़ाते हो? चन्दन घिस कर क्यों लगाते हो? धूप को जलाकर क्यों देते हो? घंटा, घड़ियाल, झाँज, पखाजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो? वह तुम्हारे शिर में है क्यों नमाते हो? अन्न जलादि में है फिर क्यों नवेद्य धरते हो? जल में है, स्नान क्यों कराते हो? क्योंकि सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक की उपासना करते हो या व्याप्य की, जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चंदन पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो, और व्याप्य की करते हो तो, "हम ईश्वर की पूजा करते हैं," ऐसा झूठ क्यों बोलते हो? "हम पाषाण के पुजारी हैं," ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते?

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)।

एक दूसरे स्थल पर मूर्तिपूजा के दोषों को उन्होंने निम्न

प्रकार गिनाया है:—

(१) साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत् सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चंचल भी नहीं रहता, किन्तु उसी गुण कर्म स्वभाव का विचार करता-करता, आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है, और साकार में होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि, जगत् में मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फंसा रहता है, परन्तु किसी में मन स्थिर नहीं होता जब तक निराकार में न लगावें, क्योंकि निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है। इसलिए मूर्तिपूजा करना अधर्म है। (२) उसमें करोड़ों रुपये मंदिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है। (३) स्त्री-पुरुषों का मंदिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। (४) उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानकर पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है। (५) नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्र युक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होकर विरुद्ध मत में चलकर आपस में फूट बढ़ा कर देश का नाश करते हैं (६) उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध दुःख पाते हैं। (७) जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन व नाम पर

पत्थर धरें तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली देता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान, हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्तियां धरते हैं, उन दुष्ट बुद्धिवालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे। (८) भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोरादि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं। (९) दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई-बखेड़ों में व्यय करते हैं जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है। (१०) माता-पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्तियों का मान करके कृतघ्न होजाते हैं। (११) उन मूर्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर लेजाता है तब हा हा करके रोते रहते हैं। (१२) पुजारी परस्त्री के सङ्ग और पुजारिन परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्री पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं। (१३) स्वामी-सेवक की आज्ञापालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। (१४) जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़-बुद्धि होजाता है क्योंकि ध्येय का जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है। (१५) परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये हैं, उनको पुजारी जी तोड़ तोड़ कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायु जल की शुद्धि करता और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिए पुष्पादि सुगन्धयुक्त पदार्थ रचे हैं (१६) पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चंदन और अक्षत आदि सब का जल और

मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुंड में आकर सड़के इतना उस से दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रों जीव उसमें पड़ते उसी में मरते और सड़ते हैं। ऐसे ऐसे अनेक मूर्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिये सर्वथा पाषाणादि की मूर्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमय मूर्ति की पूजा की है, करते हैं, और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

सम्भव है कि उपर्युक्त सूची को देख कर कुछ पाठक स्वामी दयानन्द पर अत्युक्ति का दोषारोपण करें। परन्तु जिन्हें बड़े बड़े तीर्थ स्थानों और उनके देव मंदिरों की आंतरिक अवस्था का परिज्ञान है, वे ऐसा कभी न करेंगे। स्वामी दयानन्द ने इस देश के मठ-मंदिरों की आन्तरिक अवस्था को अपनी आखों देखा था, अतः मूर्तिपूजा से होने वाली जिन हानियों को इन्होंने यहां गिनाया है उनमें कोई अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतना कहा और लिखा है कि यदि हम उनका संग्रह करने लगें तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है, इसलिये हम विस्तार-भय से अधिक उद्धरण न देकर पाठकों से प्रार्थना करेंगे कि जो इस सम्बंध में जानना चाहें वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्वरचित ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश,' 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' देखें। उनके अनेक जीवन वृत्तान्तों से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है।

इस देश में स्वामी दयानन्द से पूर्व किसी भी आचार्य ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतने खुले ढंग से कभी आन्दोलन नहीं किया। और न उससे होने वाली हानियों को इतने स्पष्ट रूप में सर्वसाधारण के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया। शंकर और

उनके पश्चात् अनेक सन्त महात्माओं ने भी मूर्तिपूजा का खंडन किया किन्तु उनमें वह बल और निर्भीकता न थी जिसे हम स्वामी दयानन्द में देखते हैं। सम्भवतः उन्होंने मूर्तिपूजा के विनाशकारी परिणामों पर भली भांति दृष्टिपात नहीं किया और उसे केवल एक पूजा-भेद समझकर पाप नहीं समझा। परिणाम-स्वरूप उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके अनुगामियों ने या तो मूर्तिपूजा से समझौता कर लिया या स्वयं उसे किसी न किसी रूप में अपना लिया।

अशिक्षित हिन्दू आज भी मूर्तिपूजा के उसी प्रपञ्च में उलझा हुआ है। सुशिक्षित समाज उससे उदासीन है। उनकी दृष्टि में यदि कोई मूर्तिपूजा करता तो भी कोई हानि नहीं, यदि नहीं करता तो कोई पाप नहीं। यदि किसी मंदिर में पहुँच गये अथवा उसके द्वार पर होकर निकले तो मूर्ति को शिर झुका दिया। अन्यथा मूर्तिपूजा से इनका न कोई विशेष सम्पर्क है और न उसमें इनको कोई विशेष आस्था। यदि किसी मूर्तिपूजक ने मूर्ति को ईश्वर के ध्यान का एक साधन सिद्ध करना चाहा तो उसकी हां में हां मिलादी और किसी ने उसके विरुद्ध कुछ कहा तो उसे भी स्वीकार कर लिया।

'धर्म किसी जाति वा देश के उत्थान-पतन का प्रधान कारण है' यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है जिसे आज या कल सभी को मानना पड़ेगा। जो लोग पश्चिमी सभ्यता के भौतिक प्रवाह में बहे जा रहे हैं, वे भूलते हैं। धार्मिक उत्थान के कारण ही यह देश संसार का शिरमौर था और धार्मिक पतन ने ही आज इसको अधोगति के गर्त में ला डाला है।

स्वामी दयानन्द आर्यजाति को इस अधोगति से बाहर निकालना चाहते थे। मूर्तिपूजा, आर्य जाति के पतन का एक मूल कारण है, इस तत्व को स्वामी दयानन्द ने भली प्रकार

समझ लिया था। शिवरात्रि का बोध मानो यह सिद्ध करता है कि उनका जन्म ही मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करने के लिये हुआ था। संसार का प्रत्येक महापुरुष अपना एक विशेष संदेश रखता है। स्वामी दयानन्द का, हमारे विचार में, यही एक संदेश था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज, इस समय हमारे देश में एक ऐसी जीवित जागृत संस्था है जो मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशंसनीय कार्य करती रही है। किन्तु उसमें भी कुछ समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रीय एकता के नाम पर खण्डनात्मक प्रवृत्ति को रोकने की भावना बढ़ती जा रही है। मूर्तिपूजा के विरुद्ध अब उसकी वेदी से कुछ अधिक नहीं कहा जाता। उधर मूर्तिपूजा-पोषक प्रगति अभी अपना कार्य कर ही रही है। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज की शिथिल मनोवृत्ति देश और जाति के लिये घातक ही सिद्ध होगी। यदि सहिष्णुता के नाम पर समझौता करने की भूल की गई तो आर्यसमाज भी अन्य सम्प्रदायों की भाँति "हिन्दू धर्म" कही जाने वाली अस्त-व्यस्त विचारधारा में सदा के लिये विलीन हो जायगा।

महात्मा गांधी इस युग के एक अन्य महापुरुष हैं। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः इस देश की राजनीति रहा, परन्तु फिर भी वह समय-समय पर अपने धार्मिक विचार व्यक्त करते रहते थे। इस देश के अनेक संत-महात्माओं के विचारों से महात्मा जी के विचार बहुत कुछ प्रभावित थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन का विशेष अवसर नहीं मिला। उनको अपना संस्कृत भाषा का अल्पज्ञान सदा खटकता रहा, इस तथ्य का उन्होंने अपनी आत्म-कथा में दुःख के साथ उल्लेख किया है। सम्भवतः इसी कारण उनके धार्मिक विचार प्रायः अनिश्चित और अस्थिर थे।

महात्मा गांधी की विचार-धारा बहुत से संतों की भाँति, "सब ही धर्म ईश्वर-प्राप्ति के साधन हैं और ठीक हैं" रही। अतएव उन्होंने कभी किसी धार्मिक विवादास्पद विषय पर अपनी निर्भीक सम्मति नहीं दी। इस विचार-धारा का अनुयायी दे भी नहीं सकता। इस विचार ने हिन्दू जाति के जीवन पर एक घातक प्रभाव डाला है। जब संसार के साधारण धर्म अपने प्रचार की प्रगति से महान् शक्तिशाली बन गये, हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) केवल कूपमंडूक ही रहा और वह अपने अमर संदेश को दूसरे देशों तक न पहुँचा सका। बौद्धकाल तक यहां के प्रचारक अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता की दुंदुभी विश्व में बजाते रहे। उन्होंने विश्व को आर्य बनाने की वैदिक लोकोक्ति को नहीं भुलाया था।

महात्मा जी स्वयं मूर्तिपूजक नहीं थे और न उनका उस पर विश्वास था, परन्तु वह उसे पाप नहीं समझते थे। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, उनके धार्मिक विचार अस्थिर थे और समय समय पर बदलते भी रहते थे। इसे उन्होंने अपने वक्तव्यों और लेखों में स्वयं स्वीकार किया है। मूर्तिपूजा पर उन्होंने अपनी जो अंतिम सम्मति प्रकट की है, हम अधिक न लिखकर उसे ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं। वह लिखते हैं:—

"एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमें खबर है कि मेरे नाम का एक मन्दिर बनवाया गया है। और उसमें मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का बेढंगा रूप समझता हूँ। जिसने यह मन्दिर बनवाया है, उसने अपने पैसे बरबाद किए हैं, गांव के भोले लोगों को गलत रास्ता दिखाया, और मेरे जीवन का गलत खाका खींच कर मेरा अपमान किया। इससे मूर्तिपूजा का अर्थ सिद्ध नहीं होता, उलटे अनर्थ होता है। अपने गुजारे के लिए या स्वराज्य के लिए यज्ञ

के रूप में कातना ही मेरे विचार से सच्ची पूजा है। तोते की तरह गीता के पारायण करने के बदले उसके उपदेशानुसार आचरण करना सच्ची गीता-पूजा है। गीता-पाठ भी उसी हद तक मुनासिब समझा जायगा जिस हद तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में मददगार हो। मनुष्य की कमज़ोरी का नहीं, बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है। जिन्दा आदमी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिन्दू धर्म को पतन की आख़िरी सीमा तक पहुँचा देते हैं।......सच तो यह है कि अकेला ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिए किसी जिन्दा या मरे हुए आदमी को पूजने के बदले, जो पूर्ण है और सत्य स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने में सुरक्षितता है। यहां यह ख्याल ज़रूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का एक प्रकार है या नहीं? फोटो रखने का रिवाज़ भी ख़र्चीला तो है मगर उसे निर्दोष समझकर मैं उसको अब तक बरदाश्त करता आया हूँ। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढ़ावा देता हूँ तो उसे हास्यास्पद और हानिकारक समझकर छोड़ दूँगा। मन्दिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान में खादी का केन्द्र खोलें तो वह सब तरह इष्ट होगा। और फिलहाल जो पाप यह कर रहे हैं उससे बच जायेंगे। उस मकान में ग़रीब लोग मज़दूरी के लिए धुनें और कातें। दूसरे यज्ञ के लिए धुनें और कातें। सब खादी पहिनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। ऐसी पूजा हानिकारक है और इसलिए छोड़ने लायक है।"

महात्मा जी यूरुप के अनेक विचारकों की भांति रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मानते थे। और राम

और कृष्ण के व्यक्तिविशेष होने पर भी उनका विश्वास नहीं था। अवतारवाद पर जो विचार उन्होंने व्यक्त किए हैं उन्हें यहां दे देना असंगत न होगा। महात्मा जी ने अपने गीता-भाष्य में लिखा है:—

"गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं परन्तु काल्पनिक हैं।' जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान् होता है, उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है"। इसी प्रकार वह अन्यत्र लिखते हैं—"ईश्वर निश्चित रूप से एक है, वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नहीं जान सका। वह सर्वव्यापक है, नेत्रों के बिना देखता और कानों के बिना सुनता है। निराकार, निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई पिता, माता या पुत्र नहीं है, तो भी लोग उसे पिता, माता, स्त्री और पुत्र बनाकर पूजते हैं। तथापि वह उनमें से कोई वस्तु नहीं है।"

(यंग इण्डिया, २५ सितम्बर सन् १९२४ ई०)

"हम राम के गुण गाते है, वह वाल्मीकि के राम नहीं। तुलसी–रामायण के भी राम नहीं हैं।......असह्य दुःख से दुखी मनुष्य से मैं कहता हूँ कि राम नाम ला।......लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र, सीता के पति नहीं; यह तो देहधारी राम नहीं हो सकते। जो हमारे हृदय में बसते हैं, वह राम देहधारी नहीं हो सकते।" (प्रताप, लाहौर, १० अप्रेल सन् १९२८ ई०)

यह सब कुछ मानते हुए भी, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं में, "रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम," का कीर्तन करने में विशेष आनन्द आता था। राम के साथ 'रघुपति,' 'राघव' 'सीता' आदि विशेषणों की संगति लगाना विचारशील पुरुषों के लिए एक पहेली ही बनी हुई है। जनसाधारण आज भी उनके राम को रामायण का ही राम समझता है। महात्मा गांधी

का बाल्यकाल से तुलसीकृत रामायण का पठन-पाठन रहा और उनके वही संस्कार कभी-कभी बुद्धि-बाह्य होने पर भी अटल रहे।

मूर्तिपूजा का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यदि आप इसका तात्कालिक उदाहरण देखना चाहते हैं तो देहली स्थित राजघाट में महात्मा गांधी की समाधि को जाकर देखें। महात्मा जी की समाधि पर, जहां उनकी कुछ अस्थियों के ऊपर एक चौकोन चबूतरा बना दिया गया है, नित्य पुष्प, पुष्प-मालायें और रुपए-पैसे चढ़ाए जाते हैं। इस समाधि के एक ओर उससे लगा हुआ महात्मा जी का ताम्रचित्र रक्खा है, जिसपर, समाधि की भांति पुष्प, रुपए-पैसे ठीक उसी प्रकार चढ़ाए जाते हैं, जैसे लोग मूर्तियों पर चढ़ाते हैं। समाधि और ताम्रचित्र के सन्मुख लोग न केवल हाथ जोड़ कर शिर झुकाते हैं अपितु आप उन्हें साष्टांग दंडवत् करते हुए भी देखेंगे। वहां मन्दिरों की भांति एक पुजारी भी रहता है जो चित्र के फूलों से ढक जाने पर उन्हें उसके ऊपर से हटाकर दूसरे दर्शकों को मूकभाव से फूल चढ़ाने के लिए आह्वान करता रहता है। गांधी जयन्ती पर तो एक विशाल-काय गांधी जी की मूर्ति तक उस समाधि पर रखदी जाती है, और उसकी भी उसी प्रकार पूजा की जाती है। स्थान-स्थान पर ऐसी ही समाधि, मूर्ति, एवं मन्दिरों की स्थापना हो रही है। और यह असम्भव नहीं है कि गांधी जी की महात्मा बुद्ध की भांति, उनकी सुस्पष्ट आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध, कहीं मूर्तिपूजा न चल पड़े। हमारे देश के बड़े बड़े गांधी-भक्त नेता आज इसे रोकने के स्थान पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे रहे हैं। वे समझते हैं कि इस से गांधी जी के प्रति लोगों की भक्ति भावना जागृत होगी और लोग उनका अनुकरण करेंगे, किन्तु मूर्तिपूजा का इतिहास बताता है कि उनकी यह धारणा दुराशामात्र ही रहेगी।

मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव

'जीवन' आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है। अतः मनुष्य जीवन की उन्नति वा अवनति इन्हीं दोनों की उन्नति वा अवनति पर निर्भर है। मूर्ति-पूजा इसमें कहाँ तक साधक वा बाधक है, यही हमें यहाँ विचार करना है।

ईश्वरोपासना आत्म-उन्नति का सर्वमान्य साधन समझा जाता है। जब आत्मा अपनी वृत्तियों को बाह्य जगत् से हटा, अन्तर्मुख हो ईश्वरचिन्तन में लवलीन होता है तो हम उसी सामीप्य को उपासना कहते हैं। इसी उपासना द्वारा जीवात्मा अपने मलविक्षेप को दूर कर ईश्वरीय गुण धारण करता है। परन्तु यदि हम ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत् अथवा जड़मूर्ति का सामीप्य ग्रहण करते हैं, तो स्वभावतः उन्हीं के गुण हम में आते हैं। जैसी हमारी संगति होगी वैसे ही हम बनेंगे। यह एक प्रसिद्ध कहावत है। परन्तु मूर्ति में न तो ईश्वरीय गुण हैं और न वह उसकी आकृति है। अतः वह ईश्वर प्राप्ति का माध्यम भी नहीं हो सकती। चेतन जीव जड़मूर्ति से प्राप्त ही क्या कर सकता है? उसे तो अपने से किसी बड़ी सत्ता की आवश्यकता है जिससे कुछ प्राप्त कर सके। यह कहा जा सकता है कि मूर्ति ईश्वर की न सही उसके अवतार की तो है! ईश्वर न अवतार धारण करता है और न उसे उसकी आवश्यकता है, यह हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। ईश्वर-अवतार

सिद्ध करना ईश्वर को पदच्युत करके उसे जीव की कोटि में रख देता है। यूनान के एक दार्शनिक जेनोफ़ेनीज ने ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का निम्न शब्दों में वर्णन किया है: --

"Negroes imagine them as black with flattened noses; the Thracians with blue eyes and red hairs, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and oxen." (The Problems of Philosphy by Janet and Seailles p. 249).

अर्थात् "नीग्रो लोग अपने देवताओं को काला और चपटी नाक वाला समझते हैं और थ्रेस निवासी उन्हें नीली आँख और लाल केशों वाला। यदि बैल और घोड़े भी चित्रकारी जानते तो वे अपने देवताओं को बैल और घोड़े की आकृति वाला ही बनाते।" ठीक यही अवस्था इन अवतारवादियों की है। इस यूनानी दार्शनिक को कदाचित् यह पता नहीं था कि भारतीय पुराण कर्त्ताओं ने हयग्रीव (घोड़े के शिर वाला) नरसिंह (सिंह के शिर वाला) सूकर, कच्छ और मच्छ के ईश्वर अवतार की सृष्टि करके उसकी कल्पना की मनुष्य द्वारा ही पूर्ति करादी है।

मूर्तिपूजा यदि वीरपूजा (hero-worship) के रूप तक ही सीमित रही होती तो इससे मनुष्य जाति का इतना अकल्याण न हुआ होता। अपने महान पूर्वजों का गुणगान तथा उनका चित्र अथवा मूर्ति-निर्माण कोई बुरा कार्य नहीं है। किन्तु उसकी उपादेयता उसी समय तक ही है जब हम उनके जीवन को उनके ही पदचिन्हों पर चल कर अपना आदर्श बना लें। उनके चित्र अथवा मूर्ति तब ही हमारे जीवन में स्फूर्ति पैदा कर सकती हैं। परन्तु उन्हें ईश्वर मानकर प्राण प्रतिष्ठा द्वारा चेतन

सत्ता समझ लेना और स्तुति प्रार्थना द्वारा उनसे रक्षा अथवा सहायता की आशा रखना अज्ञान और मूर्खता की पराकाष्ठा है। हिन्दुओं की प्रचलित मूर्तिपूजा-विधि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वे मूर्तियों को एक चेतन सत्ता समझते हैं। मन्दिरों में मूर्ति स्थापित करते समय प्राण प्रतिष्ठा की परिक्रिया भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाती है। परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि मूर्तियाँ उनकी रक्षा और सहायता करने की जहाँ सामर्थ्य रखती हैं वहाँ उनका अनिष्ट भी कर सकती हैं। इस प्रकार हिन्दुओं की मूर्तियों ने सर्वांश में 'ईश्वर' का स्थान ग्रहण कर लिया था। आज भी चाहे शिक्षित समुदाय इस प्रकार का विश्वास न रखता हो, किन्तु हिन्दुओं की निम्न श्रेणी का यही विश्वास है और यही भावना है। यह युक्ति कि हम मूर्ति द्वारा अदृश्य परमात्मा का चिन्तन करते हैं या वह हमारी धारणा वा ध्यान का एक साधन है सर्वथा कपोल कल्पित है और यह युक्ति मूर्तिपूजा के विरुद्ध इस प्रकार के आक्षेपों से बच निकलने के लिए घड़ ली गई है।

उपर्युक्त विश्वास ने हिन्दू जाति का कितना अनिष्ट किया है, उसका वर्णन लेखनी की शक्ति से बाहर है। मुस्लिम काल के एक हज़ार वर्ष की हमारी दुर्दशा और निरुपाय पराधीनता इसी विश्वास के कुपरिणाम हैं। जब तक हिन्दू जाति के अन्दर यह विश्वास है, हमारा दृढ़ निश्चय है कि वह किसी भी प्रकार की मुक्ति, चाहे वह राष्ट्रीय हो, चाहे सामाजिक अथवा धार्मिक प्राप्त नहीं कर सकती। जो लोग राष्ट्र निर्माण में धार्मिक विश्वासों को कोई स्थान नहीं देते वे भूल करते हैं। धार्मिक विश्वास ही हमारा व्यक्तिगत जीवन निर्माण करता है। सामूहिक व्यक्तिगत जीवन ही किसी समाज को ऊँचा उठाता

है और अन्त में समाज ही राष्ट्र का निर्माण करता है। अतः धार्मिक विश्वासों की अवहेलना करके राष्ट्र निर्माण का सुखद स्वप्न देखना बुद्धिमत्ता नहीं है।

धार्मिक विश्वास ने अरब, तुर्क, मुग़ल जैसी मूर्तिपूजक बर्बर जातियों को थोड़े से समय में एक झण्डे के नीचे लाकर सुसङ्गठित कर दिया। धार्मिक विश्वास ने ही उस आर्य जाति को, जो आज भी संसार में अपने ब्रह्मवाद के लिए प्रसिद्ध है, विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों और उपजातियों में विभाजित करके वर्तमान दुरवस्था में परिवर्तित कर दिया है। राजा दाहिर की पराजय इसी विश्वास का तो फल था। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ की लूट भी उसी का दुष्परिणाम था। राजपूत सैनिकों का विश्वास था कि सोमनाथ उनकी रक्षा करेंगे। परन्तु जैसे ही मन्दिर विध्वंस हुआ, उन्होंने अपनी पराजय निश्चित समझ ली और अपना सारा साहस खो बैठे। जिसका ईश्वर ही पराजित हो गया फिर उसके भक्तों की रक्षा कैसे सम्भव थी ? इस पर कोका जैसे देशद्रोही भविष्यवक्ता उनका रहा सहा साहस नष्ट करने वाले ज्योतिषियों की यहाँ कमी नहीं थी। मुहम्मदगौरी, तैमूर, नादिरशाह के इस देश पर निरन्तर आक्रमण की तह में यही विश्वास कार्य कर रहा था। सृष्टि का यह नियम है कि चिऊँटी जैसा क्षुद्र जीव भी प्रतिक्रिया करता है। हिन्दू लाखों की संख्या में दास बनाकर दूर देशस्थ गज़नी आदि स्थानों में भेड़ बकरी की भाँति ले जाए गए। तैमूर के एक सैनिक के पास इतने हिन्दू बन्दी थे कि उनका प्रबन्ध असम्भव हो गया। खाने की सामग्री के अभाव में उन्हें गाजर-मूली की भांति टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। परन्तु वे इतनी बड़ी संख्या में होते हुए भी कुछ न कर सके। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी मानसिक अवस्था कीड़े-मकौड़ों से भी गई बीती थी।

हम इन दुःखद गाथाओं की, जिनका इस पुस्तक में यथास्थान वर्णन हो चुका है, पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। हम केवल इससे इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि किसी जाति के उत्थान-पतन में उसका धार्मिक विश्वास एक सक्रिय कारण होता है, जिसे अदृष्टिगोचर नहीं किया जा सकता।

इस सृष्टि में हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव अपने कार्य और भागानुसार एक दूसरे से किसी न किसी अंश में भिन्न होता है। इस विभिन्नता का सङ्गतिकरण करने के लिए किसी समाज में कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। इन्हीं नियमों का दूसरा नाम धर्म है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए एकेश्वर का सिद्धांत भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि धर्म, किन्तु जब मनुष्य अपनी उच्छङ्खलता से अपने-अपने स्वभाव अथवा रुचि के अनुसार अनेक ईश्वरों, देवताओं एवं सम्प्रदायों और धर्म ग्रंथों की सृष्टि करने लगता है तो मनुष्य समाज अनेक भागों में विभाजित हो कर सांसारिक कलह का कारण बन जाता है। संसार के इतिहास में ईश्वर और धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार इसके साक्षी हैं। कदाचित् आज का ईश्वर और धर्म विरोधी जनसमाज इसी साम्प्रदायिक कलह का कुपरिणाम है। कापालिकों ने अपने अनुरूप 'शिव' की कल्पना करली। मांस-मदिरा-प्रेमियों ने अपनी रुचि के अनुसार 'शक्ति' की सृष्टि कर डाली। रसिकस्वभाव लोगों ने विष्णु और उसके पूर्णावतार कृष्ण को जन्म दिया। प्रत्येक ने अपने अपने उपास्यदेव की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों मेंकी —जो पुराणों के नाम से विख्यात हैं—रचना करली। उनकी मूर्ति-रचना भी उनकी रुचि के अनुकूल ही है। शैवों का शिव लिङ्ग, शाक्तों की विकराल रूप काली, और वैष्णवों का रसिक राधावल्लभ कृष्ण

उन-उन सम्प्रदायों की प्रतिच्छाया है। उपर्युक्त देवमूर्तियों का उनके उपासकों के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा—ये हम पाठकों के ही निर्णय पर छोड़ते हैं। यह केवल अब अनुमान की वस्तु ही नहीं रह गई किन्तु इन सम्प्रदायवादियों के चरित्र पर उनकी प्रत्यक्ष छाप देखी जाती है।

किसी चित्र या मूर्ति को देख कर हम पर दो ही प्रभाव पड़ सकते हैं। प्रथम उस व्यक्ति की स्मृति, जिसकी कि वह मूर्ति है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारा उस व्यक्ति के जीवन से परिचय हो। यदि वह सद्गुणसम्पन्न था, अथवा है, तो उसके प्रति हमारी श्रद्धा और प्रेम के भाव जागृत हो सकते हैं। यदि वह दुष्टस्वभाव है, तो घृणा और द्वेष के भाव उत्पन्न होंगे। दूसरा स्वभावः मूर्ति की सुन्दरता अथवा कुरूपता के साथ मूर्तिकार की कला का, उसके दर्शक पर पड़ता है। कोई भी मूर्ति अमूर्त परमात्मा की न होने से हमारा ध्यान ईश्वर की ओर आकृष्ट नहीं कर सकती। उसके बनाये सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, प्राणियों की अद्भुत शरीररचना, संसार को विमोहित करने वाले वृक्ष, लतिका और पुष्पों से लदे हुए पहाड़ और जङ्गल ही हमें उसकी स्मृति दिला सकते हैं। इन्हें त्याग कर कुशल से कुशल मूर्तिकार की रचना में ईश्वर दर्शन की इच्छा केवल बुद्धि-विभ्रमण है।

मूर्तिपूजा का सामाजिक दृष्टि से मानवजीवन पर क्या कुप्रभाव पड़ता है, इसे यदि आप देखना चाहें तो हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों की आन्तरिक अवस्था को देखिये। आप सर्वत्र अन्धविश्वास, दंभ, आडम्बर और दुराचार का साम्राज्य पावेंगे। वहां आपको ऐसे भी लोग मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की उपादेयता में विश्वास रखते हैं। किन्तु प्रायः ऐसे लोग वे हैं जो बाहर से आये हुए हैं और जिन्होंने पवित्र स्थान समझ कर उन्हें

अपना निवासस्थान बना लिया है अन्यथा वहां के निवासी मूर्तिपूजा में जीविका के लिए विश्वास करते हैं। दूरदेशस्थ प्रान्तों से आए हुए यात्रियों को मूर्तियों के चमत्कार की अनेक कल्पित गाथायें सुना कर उन्हें प्रभावित तथा भयभीत करना और बहु प्रकार के दंभ और आडम्बर दिखा कर उनकी जेब को अन्तिम पाई तक खाली करा लेना ही इनका मुख्य व्यवसाय है। कभी तो यहां के पण्डे इन यात्रियों के पास इतना धन भी नहीं छोड़ते कि वे घर भी लौटकर जा सकें। अन्त में पण्डे ही इन्हें ऋण देकर व्याज सहित उनसे उसे अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ जो प्रायः अधिक भावुक होती हैं, इनसे बुरी तरह लूटी जाती हैं। उनके चाँदी-सोने के आभूषण तक उतरवा कर यह मूर्तियों के अर्पण करा देते हैं। इन यात्रियों की धर्मभीरुता का यह लोग कितना दुरुपयोग करते हैं, इसका ठीक अनुमान देखकर ही लगाया जा सकता है। उन स्थानों पर होने वाला परस्त्रीगमनादि व्यभिचार अब कोइ छिपी बात नहीं है। इन दुष्कृत्यों के लिये मन्दिरों के न केवल साधारण पण्डे-पुजारी ही; अपितु बड़े-बड़े महन्त तक ख्याति लाभ कर चुके हैं। बम्बई का महाराज (वैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रमुख महन्त) लाइविल केस, कलकत्ते के गोविन्द-भवन की गूँज और श्रीनाथ जी के मन्दिर के महन्त दामोदरलाल हंसा प्रेम—जैसी न जाने कितनी घटनाएँ घटीं, और आज भी इन देवमूर्तियों की आड़ में घटती रहती हैं।

मूर्ति-पूजा पर देश का कितना धन पानी की भांति बहाया जाता है इसका अनुमान करना भी कठिन है। मन्दिर-निर्माण पर अरबों-खरबों का व्यय किया गया है। जिनकी बनावट इस ढंग की है कि उनका कोई दूसरा सदुपयोग असम्भव है। अन्धकार युक्त कोठे-कोठरी, जिनमें दिनमें भी दीपक के प्रकाश की

आवश्यकता होती है, मूर्तिपूजा से फैलने वाले अन्धकार का द्योतक हैं। मन्दिरों से लगी हुई करोड़ों रुपयों की वार्षिक आय की अचल सम्पत्ति, उससे भी कहीं अधिक चढ़ावा, यह सब जाति का एक ऐसा धन है जिसका यहाँ अत्यन्त दुरुपयोग होता है।

देश के लाखों अनाथ बच्चे अन्न के एक-एक दाने को तरसते हैं। किन्तु पाषाण-हृदय हिन्दू समाज इन जीवित मूर्तियों से उदास रह कर अपना असंख्य धन पाषाण-मूर्तियों पर न्योछावर कर देता है। जिससे लाखों निठल्ले साधु, पण्डे, पुजारी और महन्त आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं। इन मूर्तियों के भोग के लिए अनेक प्रकार का सुस्वादु भोजन, जो धनवानों को भी दुर्लभ हैं, नित्यप्रति इतनी बहुतायत से बनाया जाता है कि मन्दिर के कर्मचारियों के उपभोग से बचकर बाज़ार में मन्दिरों की दुकानों पर बिकता है। हिन्दुओं की अपार धनराशि प्रतिवर्ष तीर्थ-यात्रा के नाम पर रेलों पर व्यय होती है। इन सब के अतिरिक्त पर्वों, और कुम्भों के अवसर पर इन यात्राओं में जो कष्ट होता है उसे हम नित्यप्रति देखते हैं। ऐसे अवसरों पर जो संक्रामक रोग इन तीर्थ स्थानों पर फैलते हैं वह भी हम समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं।

हिन्दू जाति का जो धन इस प्रकार मूर्तिपूजा के नाम पर लुटता है यदि उसे शिक्षा-प्रसार पर लगाया जाय तो कई विश्व-विद्यालय गवर्नमेण्ट से विना सहायता प्राप्त किए चलाए जा सकते हैं, जिनके द्वारा आर्य संस्कृति की रक्षार्थ बहुत कुछ क्रियात्मक कार्य किया जा सकता है। अनाथ, असहाय, वृद्ध और विधवाओं के लिए आश्रम खोल कर उनके कष्ट निवारण किए जा सकते हैं। चिकित्सालय खोल कर देश के निर्धन रोगियों की सहायता की जा सकती है। ऐसे ही न जाने कितने कार्य हैं जो धनाभाव में नहीं हो पाते। परन्तु इसके लिए हमारे

पास धन नहीं है। हाँ, छल कपट से इन कल्पित ईश्वर और धर्म के नाम पर जितना चाहें आप हम से धन अपहरण कर लीजिए।

हिन्दू जाति की रक्षार्थ अनेक प्रयत्न किए गए और आज भी किए जाते हैं। परन्तु वे सब ही किसी न किसी अंश में असफल रहते हैं। थोड़े से सुधार-प्रिय हिन्दू ग्राम-ग्राम और नगर-नगर फैले हुए मूर्तिपूजा के असंख्य एजेन्टों का, जिनकी जीविका का आधार ही मूर्तिपूजा है, कैसे प्रतिकार कर सकते हैं? ग्राम का पण्डित, वहाँ का पुरोहित, मंदिर का पुजारी, देवी का भक्त, भूत प्रेत की झाड़ फूँक करने वाला सयाना, दर्गाहों का मुजाबर न जाने कितनों की जीविका का साधन यह मूर्ति-पूजा बनी हुई है। तब बताइए, मुट्ठीभर सुधारक उसे कैसे निर्मूल कर सकते हैं? गुरु नानक और कबीर आदि के अनुगामियों ने भी कदाचित् इस का अनुभव किया होगा! और उन्होंने विवश होकर अन्ततः मूर्तिपूजा से किसी न किसी रूप में समझौता कर लिया। गुरुद्वारों में देवमूर्तियों के स्थान पर गुरु-ग्रन्थसाहब की पूजा इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

मूर्तिपूजा द्वारा जीवन यापन करने वाले इस समुदाय ने राजा राममोहन राय का घोर विरोध किया। ऋषि दयानन्द को तो न जाने कितनी वार इसके लिए विष तक का पान करना पड़ा। मूर्तिपूजा हिन्दू जाति का एक असाधारण रोग है अतः इसके प्रतिकार के लिए असाधारण चिकित्सा की ही आवश्यकता है।

—:०:—

मूर्तिपूजा और योगसाधन

योगसाधन ही ईश्वरप्राप्ति की एकमात्र विधि है। अन्य प्रचलित विधियां उसका एक अङ्ग होसकती हैं, सर्वाङ्ग नहीं। संसार में ईश्वर-उपासना की जो विधियां प्रचलित हैं, उनमें से बहुत-सी किसी न किसी अंश में उसकी ऋणी हैं, किन्तु अपूर्ण हैं। इस विधि को समझने के लिए उसका संक्षिप्त परिचय यहां अनुचित न होगा। पतञ्जलि मुनि ने अपने संसार-प्रसिद्ध योग-दर्शन में, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" —चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् वश में रखना योग है—ऐसा लिखा है। "यम-नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टा-वङ्गानि"—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ अङ्ग योग के वर्णन किये हैं।

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (निर्लिप्तता) यम हैं। "शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"—शौच, (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वरार्पण) नियम हैं। शेष छः अङ्ग—आसन (सुखपूर्वक शरीर को एक अवस्था में स्थिर रखना, प्राणायाम (प्राण को वश में रखने की विधि) प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) धारणा (मन की एक स्थान पर स्थिरता) ध्यान (मन का स्थिर होकर निर्विषय होजाना) समाधि (ईश्वर चिन्तन में निमग्न होजाना) हैं।

उपर्युक्त योग-साधन-विधि सर्वाङ्ग पूर्ण है। आज तक जितनी भी विधियां योग के नाम से प्रचलित हुई हैं वे सब इस ही का विकृत रूप हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि यह विधि इतनी दुःसाध्य है कि कदाचित् कोई ही मनुष्य इसपर चलकर ईश्वर-प्राप्ति कर सके। ईश्वर-प्राप्ति जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च ध्येय है, अतः योग-विधि, यदि कठिन है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु हम ईश्वर-प्राप्ति के अनेक सस्ते—किन्तु मिथ्या—उपायों के अभ्यस्त होगए हैं। आप मूर्ति के दर्शन मात्र से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में एक वार का स्नान आपको स्वर्ग प्राप्त करा सकता है। किसी विशेष प्रकार का तिलक अथवा चिन्ह आपको मुक्ति दिला सकता है। इतना ही नहीं केवल एक वार नामोच्चारण से आप उसके अधिकारी बन सकते हैं। जब ईश्वर-प्राप्ति इतना सस्ता सौदा है, तो कौन ऐसा मूर्ख है जो यम-नियमों के चक्कर में पड़े? आसन, प्राणायाम का झंझट मोल ले अथवा स्वाध्याय में शिरखप्पी करे? धारणा, ध्यान तथा समाधि—जो एक देवदुर्लभ वस्तु है—की तो चर्चा ही व्यर्थ है। इस प्रकार के झूठे प्रलोभनों ने हमें प्राचीन उपासना विधि से बहुत दूर ला खड़ा किया है। हम अष्टाङ्ग योग से अपरिचित नहीं, परन्तु सस्ते नुस्खों के सामने हमने उसे छोड़ रखा है। साधारण समाज की बात जाने दीजिये, हमारा शिक्षित समुदाय भी आज उससे विमुख है।

मूर्तिपूजा का योगसाधन में कोई भी उपयोग नहीं और न उसका इससे कोई सम्बन्ध है। 'मूर्ति में मन स्थिर होजाता है,' यह नई युक्ति है जो शिक्षित समुदाय को प्रभावित करने के लिए घड़ा गई है। न केवल भारतवर्ष अपितु समस्त संसार की मूर्ति-पूजा का इतिहास इस युक्ति की सहायता नहीं करता। यदि

मन्दिरों में मूर्ति-स्थापना का यह उद्देश्य होता तो उसमें प्राण-प्रतिष्ठा के समस्त विधि-विधान की क्या आवश्यकता है? मूर्तियों के स्नान, चंदन-लेपन, परिधान तथा विभूषण का क्या अर्थ? भोग लगाना, आरती उतारना, चंवर डौलाना, पङ्खा करना, सुलाना, जगाना, इन सबका क्या अभिप्राय है? मूर्ति के समक्ष खड़े होकर उसके आगे हाथ जोड़ना अथवा साष्टाङ्ग दण्डवत् करने का क्या तात्पर्य है? क्या शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि अनेक वाद्यों का कोलाहल कभी मन को स्थिर करने में सहायक हो सकता है? मन्दिरों का समस्त वातावरण ही उपरिलिखित युक्ति का सर्वथा खण्डन करता है। मूर्तिपूजा का पोषक एक भी पुराण, इस युक्ति का उल्लेख नहीं करता। और न मन्दिरों में प्रचलित पूजा-विधि में आज तक ही इसका समावेश है।

मंदिरों का जिस ढंग से निर्माण किया जाता है वह भी हमारे ही पक्ष की पुष्टि करता है। यदि मूर्ति-पूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मंदिरों की बनावट दूसरे ही प्रकार की होती। बहुत से बड़े-बड़े मंदिरों में उपासक यदि आसन लगा कर मन को स्थिर करने की भावना से मूर्ति के सन्मुख बैठें तो उन्हें मूति का दिखाई पड़ना ही कठिन हो जायगा। या फिर शिवालय इतने सङ्कीर्ण होते हैं कि वहां चार छः उपासक भी एक साथ नहीं बैठ सकते। मध्य में शिव-लिंग, एक ओर शिवपत्नी पार्वती, दूसरी ओर उनके पुत्र गजानन, तीसरी ओर उनका वाहन वृषभ। अब कहिए उपासक किस पर अपना मन स्थिर करे? यदि आप कहें कि शिवलिंग पर, तो अन्य मूर्तियों की स्थापना का वहां क्या उद्देश्य? हमने लोगों को वृषभ की भी पूजा करते देखा है जो सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार समस्त मंदिरों का निर्माण यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि कम से कम मूर्तिपूजा का

प्रचार कभी भी इस उद्देश्य से नहीं किया गया। यदि मूर्ति-पूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मूर्ति की स्थापना खुले स्थान में होती जिसके चारों ओर उपासक बैठ कर उसकी धारणा कर सकें। धारणा योग का छठा अङ्ग है उसकी तैयारी के लिए पहिले पाँच अङ्गों का उपासक को अभ्यास करना होता है। तब कहीं उसका अधिकारी बनता है। किन्तु मूर्ति-पूजक के लिए इसकी आवश्यकता नहीं। वहाँ तो मंदिर में जाकर दर्शनमात्र से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि भूल से भी देवमूर्ति अथवा उसके निवासस्थान मंदिर की कुछ सेवा बन जाय तो पापी से पापी मनुष्य भी स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं। एक चोर मूर्ति के आभूषण चुराने के लिये मंदिर में आया मार्ग में कुछ कीचड़ थी जिससे उसके पैर सन गए। मंदिर के प्राङ्गण में उसने अपने पैररगड़ दिए। चोरी करके लौटते समय उसे सर्प ने काट लिया। यम और भगवान के दूतों में उसकी आत्मा को नरक अथवा स्वर्ग ले जाने का विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में उसको स्वर्ग मिला। क्योंकि उसने भूल से अपने पैरों की कीचड़ मंदिर में रगड़ दी थी। इसलिये मन्दिर के लेपन का फल उसे मिल गया।

भविष्य पुराण वा० अ० १७ के निम्न श्लोक इसके अन्य उदाहरण हैं:—

नैरन्तर्येण यः कुर्यात पक्षं सम्मार्जनार्चनम्।
युगकोटिशतं साग्रं ब्रह्मलोके महीयते ॥

अर्थ—एक पक्ष तक यदि कोई निरन्तर ब्रह्मा के मंदिर में झाड़ू देवे तो एक अरब युग तक ब्रह्मलोक में रहता है।

कपटेनापि यः कुर्यात् ब्रह्मशालां सुमानद।
संमार्जनादि वै कर्म सोऽपि तत् फलमाप्नुयात्॥

जो कोई कपट और छल से भी ब्रह्मा के मंदिर में झाड़ू लेपनादि करता है। उसको भी वही फल मिलता है जो श्रद्धा से करने वाले को मिलता है।

कल्पकोटिसहस्रैस्तु यत् पापं समुपार्जितम्।
पितामहघृतस्नानं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

अर्थ – करोड़ों कल्पों में जो पाप संचित किया है वह ब्रह्मा को घी से स्नान कराने से दूर हो जाता है। इस प्रकार पुराणों में स्नान, मार्जन, आचमन, धूप, दीप, मन्दिर निर्माण-आदि अनेक कृत्य जो देव मूर्तियों के प्रति किए जाते हैं उनका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है। जिससे इस परिणाम पर पहुँचने में, कि मूर्तिपूजा का योग की 'धारणा' से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, कोई कठिनाई नहीं रहती। मूर्तिपूजा पर बुद्धिमान् लोग सदा आक्षेप करते रहते हैं। ऐसे लोगों को उत्तर देने के लिए चतुर मूर्ति-पूजक इस कल्पित युक्ति के आधार पर एक दार्शनिक भवन निर्माण करने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहते हैं। अतः हम यहां इस युक्ति के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे।

इस पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि धारणा, ध्यान और समाधि क्या हैं और उनमें क्या अन्तर है। योग दर्शन के मतानुसार—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्त का किसी देश (स्थान) में बांधना धारणा कहलाता है। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"। उस धारणा में प्रत्यय (ज्ञान) का एक-सा बना रहना ध्यान कहा जाता है। "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"। उसी ध्यान में जब अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जावे और (ध्याता) अपने रूप से शून्य-सा हो जावे तो उसे समाधि कहेंगे। चित्त को एकाग्र करने के लिए अपने शरीर के नाभिचक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, नासिका का अग्रभाग

जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थान प्रसिद्ध हैं। तथापि "यथाभिमतध्यानाद्वा" अथवा जो अभिमत (इच्छानुकूल) हो उसका ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है-ऐसा दूसरे स्थान पर लिखा है। इन्हीं शब्दों को लेकर लोग कहते हैं कि यदि हम किसी देवमूर्ति ही की धारणा अथवा ध्यान करें तो इसमें क्या आपत्ति है? परन्तु लोग भूल जाते हैं कि किसी बाह्य वस्तु की धारणा अथवा ध्यान करने से हम उसी का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, परमात्मा का नहीं। इनको योग दर्शन में सिद्धियां कहा गया है। और उन्हें समाधि में, जो योग की अन्तिम सीढ़ी है, विघ्न बताया है--"ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः"। ये समाधि में विघ्न हैं किन्तु व्युत्थान (योगी की एक अवस्थाविशेष) में सिद्धियाँ हैं।

योग वा सांख्य दर्शन में ध्यान के दो लक्षण किये गए हैं। परमात्मा के ध्यान के विषय में लिखा है—"ध्यानं निर्विषयं मनः" (सांख्य) सम्पूर्ण सांसारिक विषयों से मन को हटाना ध्यान है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन किसी भी सांसारिक वस्तु में लगा रहेगा, परमात्मा का ध्यान नहीं होगा; जब किसी भी वस्तुविशेष का जिसमें ईश्वर और बाह्य जगत् दोनों ही सम्मिलित हैं, ध्यान किया जायगा तो उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। यदि वह ईश्वर है तो ईश्वर का; यदि वह हमारे शरीर से सम्बन्ध रखता है तो शारीरिक और यदि बाह्य जगत् से उसका सम्बन्ध है तो उस वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान योगी प्राप्त कर सकता है।

"नाभिचक्रे कायाव्यूह ज्ञानम्" नाभिचक्र में धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा शरीर की बनावट का सम्यक् ज्ञान होजाता है। "सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम्" सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है। "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः"। कण्ठकूप नाड़ी में संयम से भूख और प्यास की निवृत्ति होती

है। इत्यादि अनेकों सूत्रों द्वारा इनका फल, अनेक प्रकार की विद्या तथा विज्ञान की सिद्धि बतलाई हैं; किन्तु ईश्वर-प्राप्ति नहीं। इन्हीं के द्वारा योगी दूरदेशस्थ स्थान की बात सुन और देख सकता है। तथापि यह समस्त सिद्धियां ईश्वर-प्राप्ति में बाधक ही हैं।

अब यदि आप किसी मूर्ति को ही सन्मुख रखकर उसकी धारणा अथवा ध्यान करें तो आप उस मूर्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् यह मूर्ति किस वस्तु की बनी है? किसकी है? उसे किसने बनाया है? मूर्ति सुन्दर है अथवा कुरूप है? और इस प्रकार मूर्ति अथवा मूर्तिकला का ही हमें परिचय प्राप्त होगा, परमात्मा का नहीं।

सूर्य-चन्द्रादि प्रकृति, पदार्थों का ध्यान हमें उनके निर्माता परमात्मा की स्मृति दिला सकते हैं। परन्तु मूर्ति द्वारा हम केवल मूर्तिकार तक ही पहुँच सकते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के भौतिक आविष्कार भी चित्त के संयम का परिणाम हैं केवल प्रकार का अन्तर है। परन्तु एक अभागे हम हैं कि योगदर्शन जैसे रत्न को रखते हुए भी लौकिक और पारलौकिक दोनों ही उन्नतियों से वञ्चित हैं। 'योगदर्शन' हिन्दू जाति के ज्ञान के भण्डार में एक ऐसा रत्न है, कि यदि हमने मूर्तिपूजा के भ्रम-जाल में फँस कर उसकी शिक्षाओं को विस्मृत न किया होता तो यह जाति उसके सम्यक् ज्ञान द्वारा आज उन्नति के शिखर पर होती। वर्तमान समस्त वैज्ञानिक खोज एक योगी के लिए साधारण-सी सिद्धियां हैं। जिन्हें वह परमानन्द की प्राप्ति के सन्मुख न केवल तुच्छ अपितु उसमें बाधक समझता है। केवल चित्त के एकाग्र होने पर चिरस्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होसकती अन्यथा विषयों में भी थोड़े क्षण के लिए चित्त एकाग्र होजाता है। हम जो भी क्षणिक सुख अनुभव करते हैं वास्तव में वह

हमें उस विषय से प्राप्त नहीं होता अपितु उसका मूलस्रोत चित्त की एकाग्रता है परन्तु यह चित्त की एकाग्रता भी स्थायी सुख का कारण नहीं है। स्थायी सुख तथा आनन्द का स्रोत तो परमात्मा है। अतः जब तक मनुष्य का चित्त प्राकृतिक पदार्थों में उलझा रहेगा, चाहे वे योग की सिद्धियां ही क्यों न हों आनन्द की प्राप्ति नहीं होसकती। इसी लिए इन सिद्धियों को भी परमात्मा की प्राप्ति में बाधक बताया है। जब यह सिद्धियां ही बाधक हैं तो मूर्तिपूजा का तो उससे सम्बन्ध ही क्या! 'मूर्ति' की योगदर्शन के किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने धारणा की जाने वाली वस्तुओं में गणना नहीं की और न मूर्तिपूजा की ओर कहीं संकेत ही किया है। यह तो एक ऐसी कल्पना है जिसके लिए न कोई युक्ति है, और न प्रमाण।

संसार में यदि आज योग-साधन-विधि विलुप्त हो गई है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व मूर्तिपूजा और उसके प्रचारकों पर है। यदि आज मानव समाज ईश्वरविमुख होकर सांसारिक भोग विलास के प्रभाव में बहा जा रहा है, तो इसके लिए वे उत्तरदाता हैं, जिन्होंने योग-विज्ञान पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुठाराघात किया। हमने यदि इस अपूर्व विज्ञान को तिलाञ्जलि न दी होती तो आज संसार का चित्र ही दूसरा होता। पश्चिम के लोग आज भी योग के नाम पर मुग्ध हैं। अमेरिका के लिए इस भौतिक युग के चकाचौंध में भी 'योग' शब्द विशेष आकर्षण रखता है। किन्तु आज 'योग विधि' अपनी जन्म भूमि भारत से ही विलुप्त हो चुकी है। तब इन देशों को उसका क्रियात्मक संदेश दे तो कौन दे? मूर्ति चित्त को एकाग्र करने का साधन नहीं हो सकती, इस पर आइए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी विचार कर लें। मन अपनी चंचलता के कारण अस्थिर रूप से इधर-उधर घूमता रहता है। उसकी इस चंचलता को

दूर करने के लिए उसे एक स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। वह स्थान इतना सूक्ष्म होना चाहिए अथवा उसे क्रमशः इतना सूक्ष्म बना लेना चाहिए कि जिससे मन को इधर-उधर दौड़ने का अवकाश न मिले।

मेस्मरेजम (Mesmerism) जो योग का ही विकृत रूप है, का अभ्यास करने वाले गोलाकार बिन्दु को संकीर्ण करते जाते हैं। यहाँ तक कि वह एक अत्यन्त सूक्ष्म बिन्दु रह जाता है परन्तु अन्त में उसे भी हटा दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि मन को केन्द्रित करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु की आवश्यकता है जिससे उसे इधर-उधर दौड़ने का अवसर न मिले। किन्तु मूर्ति पर अभ्यास करने से हमारी उद्देश्य-पूर्ति न केवल कठिन अपितु असम्भव हो जाती है! 'मूर्ति' के सन्मुख आते ही आपका मन उसके विभिन्न शारीरिक अङ्गों में भ्रमण करने लगेगा। उसके चित्र विचित्र वस्त्रों तथा आभूषणों में घूमेगा। यदि उस मूर्ति का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा कल्पित पौराणिक व्यक्ति विशेष है तो मन तत्सम्बन्धित इतिहास अथवा गाथा का स्मरण आते ही उसमें उलझ जायगा। और इस प्रकार साधक अपने उद्देश्य के निकट न पहुँचकर उससे उत्तरोत्तर दूर होता चला जायगा। इसलिए देश और जाति के शुभचिन्तक एवं विचारशील पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे इस भयंकर धार्मिक कुरीति का यथोचित प्रतिकार करने का प्रयत्न करें और इसके स्थान पर प्राचीन योग विधि का, जिसमें कि एक साधारण व्यक्ति से लेकर उच्च से उच्च वैज्ञानिक के लिए उपासना की सम्पूर्ण विधि का समावेश है, प्रचार तथा प्रसार करें; एवं मूर्तिपूजा का योगक्रिया से सम्बन्ध स्थापित करने का जो अनुचित और स्वाथपूर्ण प्रयत्न किया है उसे दूर करने के लिए अग्रसर हों।

मूर्ति-पूजा शङ्का-समीक्षा

मूर्ति-पूजा कब से चली अथवा किसने चलाई, प्राचीन धर्म ग्रन्थ उसका समर्थन करते हैं वा नहीं, इस विवाद में न पड़ कर मूर्तिपूजा के पक्षपाती अपने पक्ष में अनेक युक्तियां दिया करते हैं। मूर्तिपूजकों में बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे व्यक्तियों की है जो मूर्तिपूजा में परम्परा से श्रद्धा रखते हैं। आप चाहें तो उसे अन्ध-श्रद्धा कह सकते हैं। परन्तु उनका ऐसा ही विश्वास है। मूर्ति की श्रद्धा और विश्वास के साथ पूजा करते हैं। मूर्ति-ईश्वर की है अथवा ईश्वरीय शक्ति प्राण प्रतिष्ठा द्वारा उसमें आ गई है, इससे उनको कोई अभिप्राय नहीं। मूर्ति किस देवता अथवा अवतार की है इससे उन्हें विशेष प्रयोजन नहीं। मूर्ति उनकी प्रार्थना सुनने की शक्ति रखती है वा नहीं यह जानने की भी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं। वे उसकी पूजा ईश्वर-पूजा समझते हैं। आप उनसे इस विषय में यदि कुछ प्रश्न करें तो वे इस विवाद में पड़ने से बचने का प्रयत्न करेंगे। उनका विश्वास है या यों कहिए कि उन्हें ऐसा विश्वास करा दिया गया है कि तर्क और बुद्धिवाद का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार में युक्ति और तर्क दो विरोधी वस्तुएं हैं जो एक साथ नहीं ठहर सकतीं। अतः वे इस व्यर्थ के विवाद में पड़ कर अपनी चिरसंचित भक्ति-भावना को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते।

जो कुछ उनके पूर्वज परम्परा से करते चले आ रहे हैं, उसी से वे संतुष्ट हैं। आप यदि उनसे इस विषय पर अधिक विचार विनिमय करने का प्रयत्न करें तो वे सरलतापूर्वक अपनी अनभिज्ञता स्वीकार कर लेंगे। इन महानुभावों की अवस्था उस व्यक्ति जैसी है जो अन्धकार में भटक रही हो और उसी में संतुष्ट हो। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ने बड़ा सुन्दर लिखा है :–

"He is in the dark and wishes to remain in the dark. He does not want light. If you throw any beam of light upon him by interrogation, he resents it and shudders at it. He feels that mental anylesis might make him a renegade and therefore he avoids it. Not that he cannot reason Among idolators you will find best lawyers whose legal acumen is awe-inspiring ; Professors of logic whose fallacy detecting capacity is unquestionable; Shrewd politicians who clearly see the invisible forces working in the domain of world politics ; traders from whose keen eye no corner of the world market is hidden; financiers who can successfully combat the dodges of exploiters ; astronomers whose knowledge of the heavenly bodies is much more clear than of their own house; and mathematicians wellversed in the intricacies of mathematical calculations. They are

all intellectuals and you will find them worshiping in temples as devoutly as their uneducated brothers and sisters—side by side with them, and as voguely too."

वह (मूर्तिपूजक) अन्धकार में है और उसी में रहना चाहता है। वह प्रकाश का इच्छुक नहीं। यदि आप बातचीत करके इस सम्बन्ध में उसे बतलाना चाहें तो वह उसे रुचिकर न होगी और वह उससे घबरायेगा। उसे भय है कि इस प्रकार की बौद्धिक छानबीन उसे अविश्वासी न बनादे और इसलिए वह उससे बच निकलने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह नहीं कि वह तर्क-वितर्क की योग्यता नहीं रखता। मूर्तिपूजकों में आपके सर्वोत्तम वकील जो चकित करने वाली तीव्र तार्किक बुद्धि रखते हैं, तर्कशास्त्र के उपाध्याय जो सूक्ष्म हेत्वाभास को ढूँढ निकालने की क्षमता रखते हैं, तथा चतुर राजनीतिज्ञ जो संसार के राजनीतिक क्षेत्र में गुह्य से गुह्य कार्य करने वाली शक्तियों का सहज में साक्षात् कर लेते हैं, मिलेंगे। उनमें आपको वाणिज्य कुशल व्यापारी जिनकी दृष्टि से संसार की किसी मण्डी का कोई कोना छिपा हुआ नहीं है, अर्थशास्त्री जो शोषक वर्ग की चालों का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकते हैं; ज्योतिष-विद्याविशारद जिनको आकाशस्थ ग्रह, उपग्रहों का अपने गृह से भी कहीं अधिक परिज्ञान है तथा गणितज्ञ जिन्हें गणित के सूक्ष्म तत्त्वों पर पूर्णाधिकार है, पायेंगे। यह सब बुद्धि विशेषज्ञ हैं। परन्तु इन्हें मन्दिरों में आप अनपढ़ लोगों के साथ वैसी ही भक्ति-भावना तथा अनिश्चित बुद्धि से मूर्तिपूजा करते देखेंगे।

उपर्युक्त उद्धरण ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का ठीक चित्रण करता है। मूर्तिपूजकों में कुछ आपको ऐसे लोग भी मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की सिद्धि में शुष्क दार्शनिक युक्तियां उपस्थित करते रहते

हैं। किन्तु मन्दिरों में आप ऐसे लोगों को ठीक उसी ढंग से जो कि सर्व साधारण की विधि है—पूजा करते पायेंगे। उनका समस्त तर्क-वितर्क केवल वाणी तक ही सीमित हैं, कार्यरूप में उनमें और साधारण मूर्तिपूजक में आप कोई अन्तर नहीं देखेंगे। इन लोगों का कार्य ठाली बैठे युक्तियों का ताना-बाना बुनना ही है, जिनके द्वारा यह मूर्तिपूजा को एक दार्शनिक रूप देने का असफल प्रयत्न किया करते हैं।

उपर्युक्त कोटि में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो मूर्तिपूजा के दोषों को भली भांति समझते हुए भी स्वार्थवश उसके रक्षार्थ ऐसी अर्थहीन युक्तियां प्रस्तुत किया करते हैं। और कभी-कभी उसे स्वीकार भी कर लेते हैं, किन्तु जीविका के कारण विवश हैं। ऐसी ही युक्तियों पर यहां इस अध्याय में विचार किया जायगा।

(१)

"ईश्वर अनन्त है और हम सान्त हैं। सान्त जीव अनन्त परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने में अशक्य हैं। मूर्ति द्वारा हम उसे एक सीमित कोटि में ले आते हैं जिससे हमें उसका कुछ आभास हो सके।"

जो परमात्मा अनन्त है वह सदा अनन्त ही रहेगा उसे मूर्ति में परिमित करने की कल्पना ही हास्यास्पद है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी मानना और जानना ज्ञान है। उससे भिन्न विपरीत ज्ञान है। उपासना का अर्थ ही उस अनन्त की खोज है। मूर्ति द्वारा हम मूर्ति का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे समक्ष है, उस अनन्त परमात्मा का नहीं। यह समझ लेना कि मूर्ति द्वारा हम उस अनन्त का साक्षात् करते हैं, एक भ्रम है। फिर एक मूर्तिपूजक सदा मूर्तिपूजक रहता है, आजतक किसी को भी एक पग आगे बढ़ते नहीं देखा।

यह कहना कि सान्त जीव को अनन्त परमात्मा का परिज्ञान नहीं हो सकता एक शाब्दिक जाल है। एवं "अनन्त परमात्मा सान्त जीव के जान लेने पर सान्त ठहरेगा" यह भी असत्य है। परमात्मा अनन्त है यह समझ लेना ही उसके अनन्तत्व का पूर्ण ज्ञान है। एक पक्षी आकाश का अन्त पाने की इच्छा से उड़ान भरता है किन्तु जब वह उसे न पाकर थक जाता है तो समझता है कि वह अनन्त है। ठीक इसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अन्त न पाकर थक जाता है तो वह उसके अनन्तत्व का अनुभव करता है। और यही उस अनन्त ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान है। उपासना का उद्देश्य परमात्मा को जानना है। उसका उद्देश्य यह कभी नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानलें। हमें तो उसके सम्बन्ध में उतना ही ज्ञान प्राप्त करना है जितना कि जीव के उत्थान के लिये अपेक्षित है; परमात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान न हम प्राप्त कर सकते हैं और न उसकी हमें आवश्यकता है। परमात्मा अनन्त है अतः हम उसे जान ही नहीं सकते, इस प्रकार की असत्य भावना लोगों में उत्पन्न करके उन्हें निरुत्साहित करना बड़ा पाप है। हम उस परमात्मा को बुद्धिबल तथा आत्मबल दोनों ही से जान सकते हैं अतः जहां यह कहना कि हम उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते, असत्य है; वहां यह भी असत्य है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जान सकते हैं।

(२)

"ईश्वर निराकार है, निराकार के दर्शन नहीं हो सकते। अतः हम उसकी मूर्ति बना लेते हैं। जिससे हमारी दर्शन-लालसा पूरी होसके।"

जब परमात्मा निराकार है तब उसकी साकार मूर्ति बनाई ही कैसे जा सकती है। चित्र अथवा प्रतिमा किसी साकार वस्तु

ही की हो सकती है। जो वस्तु हमको दिखाई पड़ती है वह भी आकार वाली होती है। अतः जिस आकृति को हम देखते हैं वह मूर्ति की है ईश्वर की नहीं। जो रूप रङ्ग का आकार हमें दिखाई पड़ रहा है वह उस मूर्ति का है, परमात्मा का नहीं। इस प्रकार मूर्ति-दर्शन मूर्ति-दर्शन ही रहेगा, ईश्वर-दर्शन नहीं। जो लोग मूर्ति के दर्शन करके यह समझते हैं कि उन्होंने परमात्मा के दर्शन कर लिये, वह गहरे अन्धकार में हैं। धर्मशास्त्र में जहाँ ईश्वर-दर्शन का उल्लेख है, वहाँ दर्शन शब्द से तात्पर्य ज्ञान चक्षुओं द्वारा दर्शन अर्थात् आत्मबोध से है। चर्म चक्षुओं द्वारा देखने का नहीं। यह बड़े दुःख और आश्चर्य का विषय कि मनुष्य उस परमात्मा को देखने के लिये उन्मत्त है जिसे वह इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सकता, उसे सुनना चाहता है जिसे इन कानों से सुन नहीं सकता। उपनिषद् उसे "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठोपनिषद्) अर्थात् वह शब्द, स्पर्श, रूप का विषय नहीं है और न उसे विभाजित किया जा सकता है, स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर रहे हैं। ईश्वर-दर्शन के नाम पर मानव समाज में विभिन्न सम्प्रदायों ने बड़ा भ्रम उत्पन्न किया हुआ है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें ईश्वर का सशरीर भक्तों द्वारा दर्शन करने का उल्लेख है। अनेक सन्तों के सम्बन्ध में तो ऐसी दन्तकथाओं की कमी ही नहीं। अमुक भक्त अड़ गया कि वह तो परमात्मा के सशरीर ही दर्शन करेगा, विवश होकर ईश्वर को दर्शन देने पड़े, इत्यादि, इत्यादि। इसी प्रकार कुरान में भी मुहम्मद साहब का बुर्राक घोड़े पर चढ़ कर स्वर्ग में जाकर ईश्वर से वार्तालाप करने का वर्णन है। परन्तु ये समस्त कल्पनाएं हैं और ईश्वर के वास्तविक रूप को न समझने का परिणाम हैं। बहुत लोग इसी भ्रम में पड़कर स्वार्थी लोगों द्वारा ठगे जाते हैं। जब हम अपनी आँख बन्द करके बाह्य जगत्

को देखना बन्द कर देते हैं, उस समय भी हमारे चक्षुओं के देखने की शक्ति विद्यमान रहती है और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निरन्तर अभ्यास से मनुष्य एक धुँधला-सा प्रकाश अपने अन्दर देखने लगता है। साम्प्रदायिक गुरुजन इसे ही ईश्वरीय प्रकाश बताकर लोगों को ठगते हैं। इसी प्रकार जब हम कान को अँगुलियों अथवा रुई आदि से बन्द कर लेते हैं तो बाह्य शब्द न सुनकर हमारे कान अन्तरिक्ष शब्दों से गूँजने लगते हैं। इसको भी ईश्वरीय शब्द बताकर 'अनहद' आदि न जाने कितने नाम रख लिये हैं। किन्तु वह रूप और शब्द दोनों ही भौतिक हैं। इन्हें ईश्वरीय बताना मनुष्य समाज को पथभ्रष्ट करना है। स्वप्नों के सम्बन्ध में भी लोगों में ऐसा ही अज्ञान फैला हुआ है। जब मनुष्य किसी मूर्ति अथवा चित्र को सन्मुख रखकर उसका निरन्तर अभ्यास करता है तो मूर्ति अथवा चित्र की प्रतिच्छाया-सी प्रायः उसके सम्मुख बनी रहती है और यह उसे स्वप्नावस्था में देखते हैं। कभी-कभी अधिक अभ्यास से मस्तिष्क की एक प्रकार की विकृतावस्था के कारण जागृत दशा में भी वह उसका भान करता है। इसे भी लोग ईश्वर अथवा उस देवताविशेष के दर्शन का नाम दे दिया करते हैं परन्तु यह सब भ्रम है। ईश्वर के वास्तविक रूप का जब तक जन साधारण में प्रचार नहीं किया जाता, इस प्रकार की मनोवृत्ति स्वार्थी अथवा मूर्ख लोग उत्पन्न करते ही रहेंगे।

३

"यह सत्य है कि मूर्तियाँ ईश्वर की आकृति नहीं हैं, तथापि मन को एकाग्र करने के लिये उनकी उपयुक्तता तथा आवश्यकता है। चंचल मन साकार वस्तु में ही स्थिर हो सकता है, निराकार में नहीं। यही कारण है कि हिन्दू लोग राम, कृष्ण आदि की मूर्ति

बनाकर उनकी पूजा करते हैं।" इस सम्बन्ध में 'मूर्ति पूजा और योग साधन' अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह भावना सर्वथा निराधार और असत्य है कि मन निराकार में स्थिर नहीं हो सकता, अत एव उसके लिये साकार मूर्ति की आवश्यकता है। समस्त साकार पदार्थ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध विषययुक्त होते हैं। और मन की चंचलता का कारण भी यही विषय होते हैं, यदि साकार पदार्थ में मन स्थिर होता तो संसार में सब ही का मन स्थिर होगया होता। क्योंकि समस्त संसार ही साकार है। परन्तु इसके विपरीत ज्यों-ज्यों मनुष्य सांसारिक पदार्थों में फँस जाता है वैसे ही वैसे उसके मन की चंचलता बढ़ती जाती है। मन की चंचलता तो उस समय दूर होती है कि जब वह निर्विषय होकर ईश्वर का चिन्तन करता है। अतः मूर्ति कभी भी मन स्थिर करने का साधन नहीं हो सकती। मूर्तिपूजक मूर्ति में सब ही विषयों की कल्पना करते हैं। रूप तो उसमें पार्थिव भाग होने के कारण विद्यमान है ही। जब उसका भोग लगाया जाता है तो 'रस' की भी कल्पना कर ही ली। पुष्प चढ़ाना और धूप देने के अर्थ उसमें गन्ध शक्ति को स्वीकार करना है। मूर्ति के हाथ जोड़ना, साष्टाङ्ग दण्डवत् करना तथा उसकी स्तुति प्रार्थना यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उसके उपासक यह समझते हैं कि वह उनकी इस समस्त क्रिया कलाप को देखती और सुनती है अतएव एक ऐसी वस्तु जिसमें सभी विषयों की कल्पना करली गई है मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है ?

राम और कृष्णादि महान् पुरुष जिनको लोग भूल से ईश्वरावतार समझते हैं, जब जीवित थे तो स्वयं सन्ध्या-वन्दना द्वारा निराकार परमात्मा की उपासना करते थे। वे अपने निकट रहने वाले बन्धु-बान्धवों की मानसिक चंचलता को दूर करने में

असमर्थ रहे। स्वयं राम का मन सीता के वियोग में अधीर हो गया था। अर्जुन कृष्ण के उपस्थित होते हुए दर्शनमात्र से अपनी मानसिक अस्थिरता को दूर न कर सका। यादव कृष्ण के नित्य दर्शन करते रहने पर भी विनष्ट हो गए। फिर यह कौन मान सकता है कि उनकी मूर्ति के दर्शन स्पर्शन अथवा पूजा से हमारा आत्म-उत्थान हो सकेगा। गीता में अर्जुन ने कृष्ण महाराज को सम्बोधन करके कहा है:—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४ अ० ६

हे कृष्ण! निश्चय ही मन बड़ा चंचल है। यह शरीर और इन्द्रियों का मथन कर डालता है। बड़ा बलवान् तथा दृढ़ है। उसका निग्रह मेरी दृष्टि में वायु के समान अति कठिन है। श्री कृष्ण उसका यह उत्तर नहीं देते कि मैं तेरे सन्मुख उपस्थित हूँ मुझ में अपना मन स्थिर करले। उसकी चंचलता दूर हो जायगी। किन्तु वे कहते हैं:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

हे महाबाहो अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन चंचल होने के कारण बड़ी कठिनाई से वश में किया जाता है। तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जाता है। जब साक्षात् कृष्ण के साथ रहते हुए अर्जुन का मन स्थिर नहीं हुआ तो उनकी मूर्ति एक उपासक के मन को किस प्रकार स्थिर कर सकती है?

४

"ईश्वरीय रचना हमें उसके रचयिता का बोध कराती है। क्या मूर्तियाँ ईश्वर की रचना नहीं हैं? क्या उन्हें श्रद्धापूर्वक

देखने से उनमें व्यापक परमात्मा और उसकी महिमा का ज्ञान नहीं हो जाता।"

जिस भौतिक पदार्थ की वह मूर्ति बनी है वह निःसन्देह परमात्मा की रचना है किन्तु मूर्ति मूर्तिकार की बनाई हुई है, परमात्मा की नहीं। किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान उसके बनाने वाले मूर्तिकार पर जाता है जिसकी वह कृति है, किन्तु उस परमात्मा पर नहीं जिसने उन सुन्दर रङ्गों की रचना की है, जिनसे कियह चित्र बना है और न उस पत्थर अथवा धातु पर, जिसके विना उस मूर्ति का निर्माण असम्भव है। इसका एक कारण है। हम एक सुन्दर चित्र को देख कर चित्रकार की कला की इसलिए प्रशंसा करते हैं कि उसने उस प्राकृतिक पदार्थ का जिसका वह चित्र है सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा की है। अन्यथा वह चित्र उस पदार्थविशेष से जिसका कि उसमें चित्रण किया गया है, सुन्दर नहीं हो सकता। क्या एक फूल का चित्र वास्तविक फूल की सुन्दरता प्राप्त कर सकता है? कदापि नहीं। अतः यह अस्वाभाविक नहीं है। किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान प्रथम उसके बनाने वाले कलाकार पर जाता है, परमात्मा पर नहीं।

ईश्वरीय बोध प्राप्त करने के लिए हमें उसकी प्राकृतिक रचनाओं का जिनमें मनुष्य ने हस्तक्षेप नहीं किया अवलोकन करना चाहिए। क्या तारागणों से भरा आकाश उसकी महानता का परिचय देने के लिए पर्याप्त नहीं है? क्या सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तरों की अद्भुत रचना उनके रचयिता का बोध कराने की क्षमता नहीं रखती? क्या सुन्दर वृक्षों और रङ्ग-विरंगे फूलों से लदे जङ्गल और पर्वत हमारा ध्यान उस विचित्र कलाकार की ओर आकृष्ट नहीं कर सकते? सत्य तो यह है

कि उस महान् प्रभु का स्मरण कराने के लिए छोटा-सा फूल ही पर्याप्त है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारी चर्म चक्षुओं के साथ हमारी ज्ञान चक्षुओं का भी सहयोग हो।

यह युक्ति भी, कि मूर्ति को देखने से उसमें व्यापक परमात्मा की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। दूध में घृत है किन्तु देखने वाले को यह दिखाई नहीं देता। तिलों में तेल विद्यमान है परन्तु क्या वह किसी को दिखाई पड़ता है? व्याप्य को देख कर व्यापक का इन चर्म चक्षुओं से कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसके लिए ज्ञान चक्षुओं की आवश्यकता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जब हमारी वृत्तियाँ अर्न्तमुखी हों। मूर्तिपूजा से हमारी समस्त वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं उसके द्वारा ईश्वर का हमें कभी भी बोध नहीं हो सकता। उस प्रभु की महिमा का दिग्दर्शन यदि किसी को करना है तो नित्य उदय होकर समस्त संसार का आलोकन करने वाले सूर्य को देखे। यदि आप ग्रामीण हैं तो बसन्त ऋतु में फूलों से लदे सरसों के खेतों का अवलोकन कीजिए। अगर आप नागरिक हैं तो नगर के किसी उद्यान में जाकर खिले हुए फूलों के अद्भुत रूप रंग का सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए। फूल की एक पंखड़ी ही उसकी अपार महिमा का प्रदर्शन करने की क्षमता रखती है। एक साधारण मूर्तिकार द्वारा घड़ी गई मन्दिर की भद्दी मूर्ति उसकी महिमा का क्या परिज्ञान करा सकती है?

(५)

"जब ईश्वर सर्व व्यापक है तो मूर्ति में भी है। हम मूर्ति की पूजा नहीं करते अपितु उसमें व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं।"

उपरोक्त युक्ति केवल कथन मात्र है। एक मूर्तिपूजक का व्यवहार इसके सर्वथा विपरीत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर सब व्यापक होने के कारण मूर्ति में भी है। परन्तु व्यापक होने से प्रत्येक व्याप्य वस्तु पूजनीय नहीं हो जाती। परमात्मा फूल में है फिर उसे मूर्ति पर क्यों चढ़ाया जाता है? जल में है फिर स्नान क्यों कराते हो? चन्दन में है फिर मूर्ति पर चंदन क्यों लगाते हो? भोजन में है--भोग क्यों लगाते हो? हाथों में है हाथ क्यों जोड़ते हो? अतः एक मूर्तिपूजक का लक्ष्य मूर्ति में व्यापक परमात्मा की उपासना होता तो वह उपर्युक्त समस्त क्रियाकलाप का आश्रय न लेता। वह मूर्ति को ईश्वर समझ कर उसकी पूजा करता है उसमें व्यापक परमात्मा की नहीं। मूर्तिपूजा के जन्मदाता, स्वयं पुराण इस युक्ति का स्थान-स्थान पर खण्डन करते हैं। भविष्य पुराण मध्यम प० अ० ७ का निम्न श्लोक देखिए:—

वासुदेवाग्रतश्चापि रुद्रमाहात्म्यवर्णनम् ।
रुद्राग्रे वासुदेवस्य कीर्तनं पुरामवर्धनम ।।
दुर्गाग्रे शिवसूर्यस्य वैष्णवाख्यानमेव च ।
यः करोति विमूढात्मा गार्दभीं योनिमाविशेत् ।।

अर्थ स्पष्ट है—जो मनुष्य वासुदेव की मूर्ति के आगे शिव की स्तुति करता है और शिव के आगे वासुदेव का कीर्तन करता है, दुर्गा के आगे शिव, सूर्य या विष्णु की स्तुति करता है वह मूर्ख गधे की योनि में जाता है। यदि मूर्तिपूजा का उद्देश्य मूर्ति में व्यापक ईश्वर की पूजा होता तो एक देवता के समक्ष दूसरे देवता की स्तुति-प्रार्थना का निषेध पुराण न करते।

पूजा का उद्देश्य जीवात्मा और परमात्मा का मेल है। इसी मेल का नाम योग है। किन्तु मिलाप वहीं हो सकता है जहाँ

दोनों विद्यमान हैं। मूर्ति में परमात्मा अवश्य है किन्तु उपासक का जीवात्मा नहीं। ऐसा स्थान जहाँ जीव और ब्रह्म दोनों ही उपस्थित हों केवल मनुष्य का हृदय है। इसी हृदय मन्दिर में जीव उस ब्रह्म का साक्षात् कर सकता है। वेद और उपनिषद् इसी सत्य का निरूपण करते हैं।

वेनस्तत्पश्यन् मनसा गुहायाम्। यजु० ३२। ८

विद्वान् पुरुष परमात्मा को हृदय में देखते हैं।

तमात्मस्थमनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखंशाश्वतं नेतरेषाम्।१२ पञ्चम बल्ली कठोपनिषद्।

जो धीर पुरुष जीवात्मा में स्थित परमात्मा को देखते हैं उनको चिरकाल तक रहने वाला सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं।

(६)

विद्वान् और ज्ञानियों के लिए चाहे मूर्ति पूजा की उपयुक्तता न हो परन्तु जनसाधारण के लिए उसकी आवश्यकता है। पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रसार से शिक्षित हिन्दू युवक वैसे ही ईश्वर और धर्म से विमुख होता चला जा रहा है। यदि मूर्तिपूजा और मन्दिरों को हटा दिया गया तो हिन्दुओं की ईश्वर और धर्म में अवशिष्ट श्रद्धा और भी नष्ट हो जायगी और लोग नास्तिक बन जायंगे। अतः मूर्तिपूजा को जीवित रहने देने की आवश्यकता है "न होने से कुछ होना अच्छा है।'

मूर्तिपूजा को जन साधारण के लिए उपयुक्त बताना और उसके लिए उसे जीवित रखने की युक्ति एक उल्टी बात है। मूर्ख को शिक्षा न देकर मूर्ख ही रखना एवं रोग की चिकित्सा न करके उसे बनाए रखने का प्रयत्न यदि उचित है तो इस युक्ति का भी औचित्य स्वीकार किया जा सकता है। जनसाधारण में धार्मिक

भावनाओं का प्रभाव नहीं है। मनुष्य की स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हें ईश्वरोपासना की सच्ची विधि का परिज्ञान करा दिया जाय तो वे धीरे धीरे उन्नतावस्था को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पाधा, पण्डे और पुजारी न जाने कितनों का स्वार्थ इस कार्य में बाधक है। यह लोग इन्हें अंधकार में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि मूर्ति के हाथ जोड़ो और अपना चढ़ावा उसके अर्पण कर दो। बस यही पूजा है। इसी उद्देश्य से तीर्थों के पण्डे सैकड़ों मील से यात्रियों का पीछा करते हैं। क्या इसी का नाम धर्म है जिसके लिए मूर्तिपूजा को जीवित रखने की आवश्यकता है ? क्या इसी प्रकार के ईश्वर-विश्वास से हिन्दू समाज की रक्षा हो सकती है ?

ईश्वरोपासना और धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा और बुद्धि को ऊँचा उठाना है। परंतु मूर्ति पूजा एक ऐसी विधि है जो मनुष्य समाज को सदा मूर्ख बनाए रखना चाहती है। यह उपासक को अंधविश्वासी और भीरु बना देती है। यही कारण है कि शताब्दियों के अज्ञान और अन्धकार के पश्चात् भी जन-साधारण का जीवन मूर्तियों के निरंतर सम्पर्क में रहने वाले पण्डे पुजारियों से आज भी श्रेष्ठतर है। सबसे बड़ी हानि जो एक मूर्तिपूजक कर रहा है, उसकी अपनी निजी हानि है। वह एक असत्य मार्ग पर जा रहा है और उसी में सन्तुष्ट है। वह समझता है कि मैं ईश्वर की पूजा कर रहा हूँ और अपने समस्त जीवन को इसी अन्ध विश्वास में व्यतीत कर देता है। वास्तविक हानि जो इससे हो रही है वह सर्वसाधारण की है। शिक्षित समुदाय अपने बुद्धि-बल से इन पण्डों और पुजारियों से अपनी रक्षा करते रहते हैं। किन्तु हमारा अशिक्षित समुदाय ही है जो इनके द्वारा बुरी तरह लूटा जाता है। क्या इनके लिए

मूर्तिपूजा का यही उपयोग है ? मुसलमान, ईसाई मूर्तिपूजक नहीं है। क्या इनका साधारण जन-समाज नास्तिक है ? सत्य तो यह है कि इनकी आस्तिक भावना हिन्दुओं से कहीं अच्छी है। मूर्ति पूजा स्वयं नास्तिकता है। अतः यह समझना कि इसके द्वारा आस्तिक भावना जीवित रह सकती है एक दूसरा भ्रम है। जिस प्रकार एक राजसत्ता की विद्यमानता में दूसरी सत्ता की आधीनता एवं आज्ञा पालन राजविद्रोह है, ठीक इसी प्रकार ईश्वर की उपस्थिति में जड़ मूर्ति को ईश्वर समझना और पूजना ईश्वर विद्रोह है, और उसी का दूसरा नाम नास्तिकता है। यदि शिक्षित युवकसमाज आज ईश्वर और धर्म से ऊबकर नास्तिकता की ओर जा रहा है तो उसका कारण भी इसी प्रकार के कल्पित ईश्वर और उसकी पूजा का विधि-विधान ह।

हमने ईश्वर और धर्म के कल्पित और असत्य रूप का प्रचार किया यह उसी का फल है। मूर्तिपूजा से जो हिन्दू जाति को हानि हुई है उनका वर्णन हमने इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर किया है। अतः हम यहां उनकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। यह ठीक है कि न होने से कुछ होना अच्छा है किन्तु उसके औचित्य-अनौचित्य पर भी तो हमें विचार करना है ! यदि उससे हमारा अनिष्ट होता है तो उससे न होना कहीं अच्छा है। कोई इसलिए किसी विषैले पदार्थ को नहीं खाएगा, क्योंकि उसके पास खाने के लिए कोई सामग्री नहीं थी। और यदि वह ऐसा करता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है। मूर्तिपूजा एक उलटा मार्ग है। इस पर चलकर हम अपने अभीष्ट को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह हमको अपने निर्दिष्ट स्थान से सदा दूर ही ले जायगी।

(७)

मूर्ति चाहे हम ईश्वर की न मानें किन्तु यदि हम उसमें ईश्वर की भावना करलें तो फल अवश्य मिलेगा। मनुष्य की जैसी भावना होती है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है। कहावत भी है "मानो तो देव नहीं तो त्थर हैं।"

भावना की भी हिन्दुओं में बड़ी विचित्र युक्ति है जिसे आप सर्वत्र सुनेंगे। जो वस्तु जैसी है उसे वैसे ही मानना और जानना 'भाव' है। इससे भिन्न अभाव। भावना मात्र से किसी वस्तु की वास्तविकता नहीं बदली जा सकती। चूने के पानी में जानकर या न जानकर दूध की भावना करली जाय तो क्या उससे मक्खन निकल सकता है? बालू में शक्कर की भावना करने से क्या मुँह मीठा हो जायगा? इसी प्रकार जल में अग्नि की भावना करने से हमारा शीत कभी दूर नहीं हो सकता। संसार का प्रत्येक मनुष्य सुख की भावना करता, दुःख की कभी कोई नहीं करता किन्तु फिर भी लोग दुखी दिखाई पड़ते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बहुत से रोगी भूल से अपने रोग को औषधि के स्थान पर विषपान कर जाते हैं फलतः उनकी मृत्यु हो जाती है। औषधि में उनकी भावनास्वस्थ होने की थी पुनः मृत्यु क्यों हुई? प्रत्येक वस्तु का गुण-दोष विपरीत भावना करने पर भी उससे दूर नहीं होता। पत्थर में देवता की भावना करने पर भी वह पत्थर ही रहेगा। न उसमें चेतना आ सकती है और न वह हमारा हित अथवा अनहित कर सकता है।

देश के सहस्रों मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस इसका जीता-जागता उदाहरण हैं। प्रत्येक हिन्दू की यह भावना थी कि यह देवता हैं, और हमारी रक्षा करेंगे; परन्तु परिणाम इसके विपरीत निकला। मूतियाँ तोड़ी गईं, मन्दिर लूटे गए, और हमारी जो दुर्दशा हुई उसका इतिहास साक्षी है। किन्तु हमारे विश्वास ने हमारी कुछ भी सहायता नहीं की।

(८)

"मूर्ति को चाहे ईश्वर समझ पूजा न की जाय, किन्तु शान्त, वीतराग और महापुरुषों की मूर्ति देखकर मन पर प्रभाव पड़ता है और चित्त को शान्ति मिलती है। यही कारण है कि मूर्ति अथवा मन्दिर को देखते ही हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति की भावना जागृत हो जाती है।"

किसी मूर्ति को देखकर हम पर उसका प्रभाव उसी समय पड़ता है, जब पूर्व से ही हमारे मन में उसके प्रति कुछ संस्कार विद्यमान हों। यह संस्कार उसी समय उत्पन्न हो सकते हैं जब उसके सम्बन्ध में कुछ परिचय हो चाहे वह पढ़ने से हो अथवा सुनने से। इन्हीं संस्कारों से जो भाव उत्पन्न होते हैं, श्रद्धा अथवा अश्रद्धा उसी का परिणाम होता है। हमारे यदि भाव अच्छे हैं तो हम श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, और यदि बुरे हैं तो अश्रद्धा उत्पन्न होगी। हिन्दू जिस मूर्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, एक मुसलमान वा ईसाई उसी को अश्रद्धा और घृणा की दृष्टि से देखता है। यदि केवल मूर्ति देख कर ही मन पर प्रभाव पड़ता तो मुसलमान भी प्रभावित होते। किन्तु ऐसा नहीं होता। हिन्दू परिवारों में जन्म से ही इन मंदिर और मूर्तियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर दिए जाते हैं। नगरों में सरकारी उद्यानों में अंग्रेज सम्राटों की मूर्तियां लगी हुई हैं किन्तु उन्हें देख कर कोई हिन्दू हाथ नहीं जोड़ता और न साष्टाङ्ग दण्डवत् करता है। न उसे देखकर उसके हृदय में श्रद्धा और भक्ति ही उत्पन्न होती है। यदि एक हिन्दू बालक में इसी प्रकार संस्कार न डाले गए होते तो मूक, निरीह और निःसहाय पशुओं के रक्त से रञ्जित काली की विकराल मूर्ति उसके हृदय में ग्लानि और घृणा के अतिरिक्त कोई भी अन्य भाव उत्पन्न नहीं करती। भैरव की भयानक

मूर्ति, शिवलिङ्ग की लज्जास्पद आकृति भय और लज्जा के अतिरिक्त क्या कभी श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर सकेगी ? अतः ये हमारे संस्कार हैं, जो एक मूर्ति अथवा मन्दिर को देखकर हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न करते हैं।

(६)

"मूर्तिपूजा अपने महान् पूर्वजों की पूजा है। क्या महापुरुषों की पूजा भी पाप है ? सभी जातियां अपने पूर्व महापुरुषों की किसी न किसी रूप में पूजा करती हैं। मुसलमान और ईसाइयों में भी इस प्रकार की पूजा प्रचलित है। इससे सिद्ध है कि मूर्तिपूजा मनुष्य के हृदय में बीजरूप से विद्यमान है, और उसे उससे सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता।"

इस पर विचार करने से पूर्व मूर्ति और पूजा इन दो शब्दों को भली भांति समझ लेना चाहिए। आकार वा शरीर वाली वस्तु को मूर्ति कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं—जड़ या चेतन। समस्त जीवधारी चेतन मूर्तियां हैं। और चेतनारहित जड़ पदार्थ जड़ मूर्तियां हैं। पूजा का अर्थ आदर-सत्कार है। व्यावहारिक रूप में इसके अर्थ उचित व्यवहार और रक्षा के भी हैं। अतः जब हम यह कहते हैं कि माता, पिता, गुरु आदि हमारे पूज्य हैं, अथवा हमें उनकी पूजा करनी चाहिए, तो इसका अभिप्राय उनकी अन्न जल वस्त्रादि से सन्तुष्टि तथा सेवा-सुश्रूषा एवं आज्ञापालन द्वारा उन्हें सुखी रखना है। किन्तु एक जड़ वस्तु की पूजा उसकी उचित रक्षा एवं व्यवहार ही है, उसके हाथ जोड़ना, स्तुति करना अथवा भोग लगाना नहीं, क्योंकि न वह सुनती है, और न खाती है। इसलिए एक मूर्ति की चेतन की भांति पूजा करना एक ज्ञानशून्य कृत्य है। हिन्दू गङ्गा नदी की आरती उतारते हैं, स्तुति करते हैं,

जल में दूध चढ़ाकर उसे नष्ट करते हैं। रेलगाड़ी जब पुल पर से जाती है तो उसमें से पैसे फेंकते हैं किन्तु बाढ़ आने पर यही गङ्गा उनके ग्रामों के ग्राम बहा ले जाती है। अङ्गरेज़ लोगों ने हिन्दुओं की भांति उसकी पूजा नहीं की किन्तु नहर तथा बिजली आदि बना कर उसका सदुपयोग किया, और लाभ उठाया है। अब कहिए गङ्गा ने किसपर कृपा की? हिन्दुओं की प्रचलित मूर्तिपूजा को पूर्व पुरुषाओं की पूजा बताना या समझना या तो इन दोनों के भेद को न समझना है, अथवा वाक् छल है। पूर्व पुरुषाओं की पूजा अथवा उनकी मूर्ति वा चित्र का यथायोग्य व्यवहार कोई पाप नहीं है। आप उनके चित्रों से अपने स्थानों को सुसज्जित कीजिए, उनकी मूर्तियां (Statues) रखिये अथवा सार्वजनिक स्थानों पर उनकी स्थापना कीजिए। जिससे उनको देखकर उनके आदर्श जीवन एवं सदुपदेशों की स्मृति हो सके और उनके पदचिह्नों पर चलने का प्रोत्साहन मिल सके। किन्तु उनके प्रति चेतन जैसा व्यवहार-मानों वे जीवित हैं—अथवा उन्हें ईश्वर समझ बैठना और ईश्वर के स्थान में पूजना, अज्ञान और नास्तिकता है। मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी होते हुए भी काबा के काले पत्थर (संगे असवद) को चूमते हैं और उसके प्रति आदरभाव रखते हैं। अरब के मुसलमान भी जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, मर्ति पूजक थे। उनकी उपासना-विधि (नमाज़) में शिर झुकाना (सज़दा) यह सिद्ध करता है कि केवल उनके सामने की मूर्ति हटाली गई है किन्तु प्रकार अभी वही है। इस भांति उनके पुराने संस्कार किसी न किसी रूप में चले आ रहे हैं। इसी प्रकार उन्होंने जीवन-मृत्यु के प्रश्न को भी नहीं समझा। वे समझते हैं कि मृत्यु के पश्चात् शरीर साथ जीव भी कब्र में रहता है और यही समझ कर वे अपने

पूर्वजों की कब्रों पर स्तुति और प्रार्थना करते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मुसलमान एकेश्वरवादी हैं, और ईश्वर के स्थान पर किसी दूसरे की पूजा नहीं करते।

रोमन कैथोलिक ईसाई, ईसा, मरियम आदि की पूजा करते हैं किन्तु प्रोटेस्टैण्ट ईसाई उसे ईसाई धर्म के विरुद्ध समझते हैं। ईसा ने स्वयं मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। कुछ योरुप-निवासियों में पुराने मूर्तिपूजा के संस्कार जीवित रहे और अन्य देवताओं के स्थान पर उन्होंने ईसा और उसकी माता मरियम की पूजा प्रचलित करदी।

जब किसी मनुष्य वा जाति के हृदय में प्रबल कुसंस्कार घर कर लेते हैं तो उन्हें निर्मूल करना कोई सरल बात नहीं है। किन्तु बुराई, बुराई ही है। पुरानी होने से उसके दोष गुणों में परिणत नहीं हो सकते। किसी रोग की भयङ्करता इसलिए कम नहीं हो जाती, क्योंकि उससे बहुत से मनुष्य पीड़ित हैं, ऐसा रोग तो महामारी है, और उसका शीघ्र से शीघ्र उन्मूलन होना चाहिए। योरुप, अमरीका आदि पाश्चात्य देशों में बड़े-बड़े नगरों के सार्वजनिक स्थानों में उनके महापुरुषों की जिस भांति मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं, वही महापुरुषों की मूर्तियों की उपयुक्त पूजा है। हमारे देश में भी देश के नेताओं की इसी प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा चल पड़ी है। किन्तु यह उसी अवस्था में लाभप्रद है जब हम उनका उचित उपयोग करें। यदि राम, कृष्णादि महान् पुरुषों की मूर्तियों की तरह इनका भी दुरुपयोग हुआ तो इससे भी हानि ही होगी। महात्मा गांधी की मूर्ति और समाधि का कुछ ऐसा ही दुरुपयोग महात्मा जी की इच्छा और सिद्धान्तों के विरुद्ध उनके भक्तों द्वारा, जिनमें हमारे देश के बड़े-बड़े नेता भी हैं, प्रारम्भ हो चला है जिसे रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

(१०)

"जब महापुरुषों की मूर्तियाँ देखकर हमें उनकी स्मृति हो जाती है तो राम, कृष्णादि की मूर्तियाँ देखकर जो ईश्वर के अवतार थे—परमात्मा की स्मृति क्यों नहीं हो सकती ?"

इसी पुस्तक में अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि न ईश्वर अवतार लेता है और न इसकी आवश्यकता है। राम, कृष्णादि महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित करने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें जीवित पुरुषों की भांति पूजना अथवा उनमें ईश्वर की भ्रान्ति रखना अज्ञान और पाखण्ड है। इससे देश और जाति की हानि ही हानि है। लाभ कुछ न ।

(११)

"मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।"

यह उपमा भी भ्रमपूर्ण है। सीढ़ी पर चढ़कर मनुष्य उत्तरोत्तर ऊँचा उठता है। परन्तु मूर्तिपूजा जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं—पतन की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त एक मूर्तिपूजक आजीवन मूर्तिपूजक ही बना रहता है। यह बात दूसरी है कि उसका विश्वास मूर्तिपूजा से किसी प्रकार स्वयं हट जाय अथवा हटा दिया जाय। चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विद्वान् आप्त पुरुषों का आदर-सत्कार तथा सत्संग एवं यम नियमादि का पालन तो ईश्वर-प्राप्ति की सीढ़ियाँ हो सकती हैं किन्तु मूर्तिपूजा तो एक गहरी खाई है जो मानव समाज को रसातल की ओर ले जाती है। यह एक ऐसा अन्ध विश्वास है जो मानव-हृदय को पाषाण एवं बुद्धि को ज्ञानशून्य बना देता है।

(१२)

"वेदान्त का सिद्धान्त है कि सारा ही संसार ब्रह्म है। जब

सारा ही संसार ब्रह्म है पुनः मूर्ति को ब्रह्म मानने में क्या दोष है ?"

यह सारा जगत् ब्रह्म है यह सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनकार का नहीं है। वह जीव और ब्रह्म के भेद का बलपूर्वक प्रतिपादन करता है। हाँ श्री शंकराचार्य का ऐसा मत था और उन्हीं के अनुयायी जीव-ब्रह्म की एकता पर विश्वास रखते हैं। श्री माधवाचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य में इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है। इस विषय का हमारे प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो उपास्य और उपासक में जब भेद ही नहीं तो उपासना किसकी और क्यों ? मूर्ति को ब्रह्म मानने और न मानने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस पर भी यदि इस सिद्धान्त के मानने वाले उपासना की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो श्री शंकराचार्य ने मूर्तिपूजा का स्वयं खण्डन किया है अतएव इस युक्ति का दोनों ही प्रकार से कोई महत्त्व नहीं रहता।

(१३)

"जिस प्रकार हमने निराकार अक्षरों के लिए साकार अक्षरों की कल्पना करली है और जिस भांति हम रेखागणित के आकार रहित बिन्दु की कल्पना एक सूक्ष्म बिन्दु लगाकर कर लेते हैं उसी प्रकार यदि निराकार ईश्वर के लिए साकार मूर्ति की कल्पना करलें तो इसमें क्या हानि है ?"

कल्पना किसी वस्तु के अभाव अथवा अनुपस्थिति में की जाती है। साकार अक्षरों की कल्पना केवल निराकार अक्षरों वा शब्दों के अभाव में उनकी मूर्ति के लिए की जाती है। यदि हमारे शब्द सर्वत्र और सदा सुने जाते तो हमें न साकार

अक्षरों की कल्पना की आवश्यकता थी, और न लेखनकला की। परमात्मा सर्वव्यापक और सार्वकालिक है, अतः उसके लिए किसी दूसरी वस्तु की कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहो कि दिखाई नहीं पड़ता इसलिए कल्पना करने की आवश्यकता है परन्तु केवल दिखाई न पड़ने से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। आकाश और शब्द दोनों ही दिखाई नहीं पड़ते परन्तु उनका अभाव नहीं है। कल्पित वस्तु में और जिस वस्तु की कि वह कल्पना है कुछ सादृश्य होना चाहिये। अक्षर-विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि साकार अक्षर निराकार अक्षरों की मूर्ति नहीं है अपितु उच्चारण के समय जो ओष्ठ आदि की आकृति बनती है उसकी ही कल्पना है और वर्तमान समस्त भाषाओं की वर्णमालाएँ उन्हीं का अपभ्रंश रूप हैं। इसी प्रकार एक बिन्दु उसी समय तक रेखागणित के बिन्दु के सदृश समझा जायगा जब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो। एक बड़े गोलाकार चिन्ह को कभी कोई बिन्दु कहने या मानने के लिये उद्यत नहीं होगा। एक हाथी के बृहदाकार की आप पहाड़ से उपमा दे सकते हैं किन्तु एक जलाशय में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यद्यपि दोनों ही साकार हैं। ईश्वर और पाषाण-मूर्ति में लेशमात्र भी सादृश्य नहीं है। मूर्तियां प्रायः निराकार ईश्वर की कल्पना करके बनाई भी नहीं गई, अपितु मनुष्यों को ईश्वरावतार समझ कर उनकी कल्पना कर डाली गई है। निराकार शब्द आँख से नहीं देखा जाता, अपितु कान से सुना जाता है। सुविधा के लिये कानों के विषय को साकार अक्षरों की कल्पना द्वारा आँखों का विषय बना लिया गया है। परन्तु जो परमात्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है उसे समझाने के लिये किस इन्द्रिय का विषय बनाया जाये? वह तो केवल अनुभूति की ही वस्तु रह जाती है।

(१४)

"जिस प्रकार काल के निराकार होने पर भी साकार घड़ी से निराकार घड़ी का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति द्वारा परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।"

घड़ी एक यंत्र है जिसके द्वारा हम सूर्य के सन्मुख पृथ्वी के एक बार घूमने से उत्पन्न होने वाले दिन और रात्रि के समय को माप करके उसका विभाजन कर देते हैं। घड़ी न काल की मूर्ति है और न जब तक सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार उसे ठीक ठीक मिलाया जाय, काल का ज्ञान ही करा सकती है। बन्द घड़ी द्वारा समय ज्ञान तो दूर, हम उससे समय का माप भी नहीं कर सकते। अतः घड़ी को किसी अंश में सूर्य की मूर्ति तो कह सकते हैं, क्योंकि उसका सारा क्रम सूर्य पर निर्भर है परन्तु वह निराकार काल की मूर्ति कदापि नहीं है।

(१५)

"जैसे मानचित्र (नक़शा) को देखकर पहाड़ तथा नदी का ज्ञान बालकों को हो जाता है इसी प्रकार मूर्ति को देखकर ईश्वर का ज्ञान हो जाता है।"

पहाड़, नदी, पृथ्वी आदि सभी साकार वस्तुएँ हैं। मानचित्र उनका लघु रूप है। यह असत्य अथवा असम्भव कल्पना नहीं। किन्तु परमात्मा निराकार है, ऐसी अवस्था में उसकी मूर्ति अथवा चित्र की कल्पना नहीं की जासकती।

(१६)

"शब्द निराकार है किन्तु उसे ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड में भर कर मूर्तिमान् बना लिया जाता है। इसी भांति निराकार परमात्मा की भी मूर्ति क्यों नहीं बनाई जा सकती?"

शब्द, चाहे हम उसे कण्ठ से व्यक्त करें चाहे ग्रामोफ़ोन के

(Sound box) शब्द यंत्र और रिकार्ड की सहायता से, वह निराकार ही रहेगा। अन्तर केवल प्रकार का है। मनुष्य उसका उच्चारण कण्ठादि की सहायता से करता है वहाँ ग्रामोफ़ोन में कुछ यंत्रों की सहायता से किया जाता है। परन्तु दोनों ही निराकार।

(१७)

"जैसे एक काग़ज़ के टुकड़े अथवा धातु के सिक्के पर किसी राजा, महाराजा का चित्र बना देने से वह मूल्यवान् बन जाता है इसी प्रकार एक मूर्ति परमात्मा की मान लेने पर पूजनीय हो जाती है।"

एक करेन्सी नोट, हुण्डी अथवा सिक्का इसलिये मूल्यवान् नहीं हो जाता कि उस पर किसी सम्राट् का चित्र है अथवा मुहर वा हस्ताक्षर हैं। उसका मूल्य राज्य की साख पर निर्भर है। राज्य उस मूल्य को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। यही कारण है कि जिस प्रकार एक व्यापारी का दिवाला निकल जाने पर उसकी हुण्डी एक रद्दी काग़ज़ का टुकड़ा रह जाती है, ठीक इसी प्रकार राज्य के परिवर्तन पर उस करेन्सी नोट का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। परमात्मा निराकार है उसकी कोई आकृति वा मूर्ति ही नहीं। अतः जिस प्रकार जाली सिक्का प्रचलित करने पर राज्यदण्ड मिलता है उसी प्रकार क्या मूर्तिपूजक दण्डनीय नहीं ठहरते ?

(१८)

"मूर्ति परमात्मा का शरीर है, शरीर की पूजा करने से शरीरी प्रसन्न होता है, अतः मूर्तिपूजा ठीक है।"

न्यायदर्शन, "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"—क्रिया, इन्द्रियाँ, अर्थ इनके आश्रय को शरीर बताता है। मूर्ति में कोई भी शरीर

का लक्षण नहीं। यदि यह कहो कि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर माना गया है उसी प्रकार मूर्ति भी परमात्मा का शरीर है, परन्तु ब्रह्माण्ड को शरीर बताना केवल एक रूपक अलङ्कार है, वास्तविकता नहीं। केवल व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से मूर्ति परमात्मा का शरीर नहीं हो सकती अन्यथा हमारा शरीर भी परमात्मा का शरीर हो जायगा। तब हम अपने शरीर की ही पूजा करके परमात्मा को प्रसन्न कर सकते हैं, मूर्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। या फिर समस्त पदार्थ ही परमात्मा के शरीर हैं, मूर्ति का झगड़ा ही व्यर्थ है।

(१६)

"जैसे अग्नि के निराकार और साकार दो रूप हैं उसी प्रकार परमात्मा के भी निराकार और साकार दो रूप हैं। इसीलिए निराकार परमात्मा की निर्गुण और साकार परमात्मा की सगुणोपासना की जाती है। सगुणोपासना का ही दूसरा नाम मूर्तिपूजा है।"

अग्नि का स्वाभाविक गुण रूप है। जिसका रूप स्वाभाविक गुण हो वह कभी भी निराकार नहीं हो सकता। शास्त्रों में अग्नि की दो अवस्थाएं वर्णन की हैं एक उद्भूत दूसरी अनुद्भूत जब अग्नि के अवयव अलग-अलग हो जाते हैं तो दिखाई नहीं देते। किन्तु जब रगड़ आदि से प्रकट होते हैं तो दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे दिखाई न देने के कारण निराकार हैं। दूध में घी दिखाई नहीं पड़ता और न तिलों में तेल दीखता है—बिलौने से अथवा पेरने से उनमें घी व तेल प्रकट हो जाता है। तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि घी व तेल पहिले नहीं था या पीछे उत्पन्न हो गया। जो वस्तु निराकार है वह सदा निराकार ही रहेगी। पुनः जैसा कि पूर्व लिखा

जा चुका है, दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते। अतएव परमात्मा को या तो निराकार मानो वा साकार। यदि कहो कि निराकार है किन्तु कभी साकार भी हो जाता है, तो प्रथम निराकार वस्तु साकार होती ही नहीं। थोड़ी देर के लिए यदि मान भी लें तो साकार होने पर परमात्मा निराकार नहीं रहेगा और एकदेशीय हो जायगा। एकदेशीय हो जाने पर सर्वव्यापक नहीं रहेगा न सर्वान्तर्यामी। सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी न रहने पर कर्म-फलदाता भी नहीं रहता और न सृष्टि को नियम में चला सकने की शक्ति रख सकेगा। फिर साकार से आपका तात्पर्य क्या है? क्या वह जड़ पदार्थों की भांति आकार वाला हो जाता है? यदि ऐसा है तो उसमें और चेतना रहित जड़ वस्तु में क्या अन्तर रह गया? यदि कहो कि जीव की भांति निराकार तो रहता है किन्तु शरीर भी धारण कर लेता है। तब भी शरीर द्वारा जो विकार उत्पन्न होते हैं वे सब ही उसे भोगने पड़ेंगे, और वह निर्लेप और निर्विकार नहीं रहेगा। शरीर कर्मों का फल है अत एव वह कर्मबन्धन से भी मुक्त नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में वह परमात्मा रहता ही नहीं, अपितु जीव बन जाता है। ईश्वर का अवतार मानने पर होता भी ऐसा ही है। निर्गुण और सगुणोपासना के भी वह अर्थ नहीं हैं जो आपने समझे हैं। क्या निराकार होने पर परमात्मा गुणरहित हो जाता है? निराकार वस्तु में जितने गुण होते हैं उतने साकार वस्तु में नहीं होते। जीव निराकार है उसमें कितने गुण और कितनी शक्ति विद्यमान है? स्वयं जितने भी गुण हैं वे सब ही निराकार हैं। इसी प्रकार साकार वस्तु भी केवल साकार होने से सगुण नहीं हो जाती। वास्तव में जब हम परमात्मा के न्यायकारी, दयालु, आनन्दस्वरूप आदि धनात्मक गुणों

की हृदय में धारणा वा चिन्तन करते हैं जिससे हम भी उन गुणों को धारण कर सकें तो उसे सगुणोपासना कहते हैं। इसी प्रकार जब हम ईश्वर के अजर, अमर, अनादि, अनन्त आदि ऋणात्मक गुणों को हृदय में धारण करते हैं, तो वह निर्गुणोपासना है। निर्गुणोपासना के प्रभाव से उपासक में निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है तो वह भी अमर होजाता है। उसके प्रभाव से उपासक के अन्दर जैसा कि सगुणोपासना में होता है, कुछ आता नहीं अपितु कुछ जाता है। किन्तु इस जाने से उसे आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है। कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र में यही भाव स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये हैं—अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम् तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तम्महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। कठ० १।२।१५॥

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है। इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

(२०)

लड़कियां पहले गुड़िया खेलती हैं। परन्तु विवाह होने पर उसे छोड़ देती हैं। ऐसे ही पहिले हम मर्तिपूजा करते हैं। जब ईश्वर मिल जायगा तो छोड़ देंगे।

"तुलसी प्रतिमा पूजिवौ, है गुड़ियन को खेल।
जब पहुँचे ससुराल में, देय पिटारे मेल॥"

जिस प्रकार मर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझा जाता है, उसी प्रकार गुड़ियों का खेल विवाह का साधन नहीं है। यदि ऐसा होता तो सब माता-पिता लड़कियों के विवाह की

चिन्ता से मुक्त हो जाते। गुड़ियों का खेल वास्तव में बच्चों के मन बहलाव की वस्तु है। क्या मूर्तिपूजा भी मन बहलाव की वस्तु है ? उस कन्या के लिए क्या कहा जायगा जो बुड्ढी हो गई है किन्तु गुड़ियों से ही खेलती है। लोग बुड्ढे हो जाते हैं किन्तु उनसे गुड़िया रूपी मूर्तिपूजा नहीं छूटती। सत्य तो यह है कि एक मूर्तिपूजक का अमूल्य धन और समय इसी खेल में व्यतीत हो जाता है, और यह अभागा यह ही समझता रहता है कि वह इसके द्वारा ईश्वर के निकट पहुँच रहा है। एक बच्चा भी गुड़ियों के खेल को खेल ही समझता है परन्तु एक मूर्तिपूजक बुड्ढा होने पर भी मूर्तिपूजा को ईश्वर-पूजा समझता है। इस अज्ञान के लिए क्या कहा जाय ?

(२१)

"मूर्तिपूजा में कुछ गुण न सही किन्तु हमारे पूर्वजों की देन है जो सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही है। इसलिये धर्म समझ कर न सही, एक प्राचीन प्रथा समझ कर ही उसे प्रचलित रखने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।"

इस पुस्तक में जैसा कि हमने स्थान-स्थान पर सिद्ध किया है, मूर्तिपूजा हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों की देन नहीं है। महाभारत के पश्चात् इस देश के अधः पतन के साथ-साथ पौराणिक काल में इसका जन्म हुआ। यह सब कुछ होते हुए भी कोई प्रथा इसलिए अनुकरणीय नहीं होती क्योंकि यह परम्परा से चली आ रही है। हमें तो उसके गुण-दोषों पर विचार करना है। जो समाज किसी बुराई से इस लिये चिपटा रहता है क्योंकि उसके पूर्वज भी ऐसा ही करते चले आये हैं, वह शीघ्र नष्ट होजाता है। जिस प्रकार पौदों के निकट उग खड़े हुए झाड़-झंखाड़ों को काट फैंकना आवश्यक है, इसी प्रकार

किसी समाज के उत्थान के लिये उसमें उत्पन्न होने वाली कुरीतियों को दूर करना अनिवार्य है। मूर्तिपूजा से हिन्दू-जाति को हानि हुई है, उसका दिग्दर्शन इस पुस्तक में कराया है। ऐसी कुप्रथा को जिसने हमारे समस्त मानसिक एवं सामाजिक जीवन को खोखला कर दिया है उसे इसलिये जीवित रखना कि वह कुछ शताब्दियों से एक झोंक की भांति हमसे चिपट गई है, आत्मघात के सदृश है।

(२२)

"मूर्तिपूजा वर्तमान हिन्दू-धर्म की आत्मा के तुल्य है। उसे विना घोर क्रान्ति उत्पन्न किये नष्ट नहीं किया जासकता। परन्तु ऐसा करने से हिन्दू-जाति में प्रबल उथल-पुथल एवं पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होने का बड़ा भय है, जो सङ्गठन एवं राष्ट्रोन्नति में बाधक सिद्ध होगा। अत एव हानि-प्रद होते हुए भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ कहना कम से कम वर्तमान परिस्थिति में उचित प्रतीत नहीं होता।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूर्तिपूजा वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म की जान है। हिन्दू-धर्म का समस्त ताना-बाना इसी से पूरित है। यह भी सत्य है कि इसे विनष्ट करने के लिये प्रबल क्रान्ति की आवश्यकता है। परन्तु क्रान्ति के भय से किसी सुधार को स्थगित नहीं किया जा सकता। रोग जितना भयानक होगा उसे दूर करने के लिये उतने ही प्रबल उपचार की आवश्यकता होती है। इस भय से कि शस्त्र-चिकित्सा में रोगी को कष्ट होगा उपचार रोका नहीं जा सकता। मूर्तिपूजा ने ही जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, आर्य-जाति की स्वाधीनता एवं सङ्गठन पर कुठाराघात किया है। मूल कारण को दूर किये विना जिस प्रकार रोग दूर नहीं हो सकता, वैसे ही मूर्तिपूजा जो हिन्दू-जाति को विभाजित एवं पराधीन बनाने का मूल कारण है, जब तक

दूर नहीं होती हिन्दू-सङ्गठन एवं राष्ट्रोन्नति के स्वप्न देखना एक दुराशा-मात्र है। क्रान्ति चाहे वह राजनैतिक हो चाहे धार्मिक, कभी सुख-साध्य नहीं होसकती। उसमें कष्ट, विरोध, यातनाएं सभी कुछ सहन करनी पड़ती हैं। परन्तु क्रान्ति जीवन का चिन्ह है इसे अस्वीकार नहीं किया जासकता। देश की स्वाधीनता के नाम पर धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की अवहेलना भी अदूरदर्शिता है। भारतवर्ष की पराधीनता का मूलकारण धार्मिक एवं सामाजिक नहीं।

राजनैतिक सुधार पहिले, धार्मिक और सामाजिक पीछे; यह प्रस्ताव जिन लोगों की ओर से रखा जाता है, हम उनसे पूछते हैं कि उन्होंने यह कैसे निश्चय कर लिया कि राजसत्ता जिन लोगों के हाथ में आती है वे सभी सुधारवादी होते हैं? विधान-सभा का निर्वाचन जन-साधारण ही करते हैं जब तक वे स्वयं सुधरे हुए नहीं होंगे, सुधार-प्रिय प्रतिनिधियों का निर्वाचन असम्भव है। यह कार्य तो फिर भी उन ही को करना होगा जो इन सुधारों की आवश्यकताओं का अनुभव करते हैं। राजसभाएं भी ऐसे सुधारों में हाथ डालने से भयभीत रहती हैं जिन्हें जन-साधारण का समर्थन प्राप्त न हो। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजसत्ता हाथ में आने पर भी धार्मिक एवं सामाजिक कलहों के कारण हम उसे स्थिर नहीं रख सके।

(२३)

"हिन्दूधर्म में बहुदेवतावाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि आप उपासक के निकट खड़े होकर उसकी स्तुति-प्रार्थना को सुनें तो आप पायेंगे कि वह परमात्मा के निराकार आदि सब ही विशेषणों का उस मूर्ति के लिये उपयोग करता है।"

हम अनेक प्रमाण देकर सिद्ध कर चुके हैं कि हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय अन्य के उपास्यदेव की पूजा का न केवल निषेध

करता है, अपितु उसकी निन्दा भी करता है। इतना ही नहीं, एक ही सम्प्रदाय के उपास्यदेवों में भी विभिन्नता है। वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण दोनों को ही पूर्णावतार मानता है। किन्तु इस सम्प्रदाय का एक दल राम को विशेषता देता है और दूसरा कृष्ण को। और एक दूसरे की मूर्ति की पूजा करने को उद्यत नहीं है।

परम वैष्णव श्री गोस्वामी तुलसीदास के लिये प्रसिद्ध ही है कि जब वह मथुरा आये तो कृष्ण की मूर्ति को यह कह कर—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ ।।

उस समय तक नतमस्तक नहीं हुए जब तक कृष्ण की मूर्ति ने धनुष बाण लेकर राम का रूप धारण नहीं कर लिया। चाहे उपर्युक्त घटना सर्वथा असत्य हो परन्तु यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि एक वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी विभिन्नताएं विद्यमान हैं।

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" हाथी के आक्रमण करने पर भी जैन के मन्दिर में न जाय, यह प्रसिद्ध लोकोक्ति इसका दूसरा ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दू मूर्तिपूजक का अवतारवाद में अटल विश्वास है अतः यदि वह निराकार ईश्वर के विशेषणों का कभी अपनी स्तुति-प्रार्थना में समावेश कर देता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूर्ति की पूजा न करके निराकार ईश्वर की पूजा कर रहा है। वह ईश्वर के दोनों ही रूपों, साकार तथा निराकार, में विश्वास रखता है। इसीलिये कभी-कभी मूर्ति की स्तुति में निराकार के भी विशेषणों का समावेश कर लेता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में देवता तथा देवियों की अनेक गाथायें उपस्थित हैं। जिनमें उनके जन्म, विवाह, सन्तानोत्पत्ति एवं

युद्धों का विशद वर्णन है। इन गाथाओं के विद्यमान होते हुए यह कहना है कि हिन्दू धर्म बहुदेवतावादी नहीं है, अयथार्थ है।

(२४)

वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब हम यह देखते हैं, कि मूर्तिपूजा में विश्वास रखनेवालों में बहुत से महापुरुष हुए हैं अथवा हैं, जिनका आदर्श चरित्र एवं आत्मबल अनुकरणीय है; फिर यह कैसे मान लिया जाय कि मूर्तिपूजा पाप है?"

मूर्तिपूजा के जिन भयानक दुष्परिणामों का हमने इस पुस्तक में वर्णन किया है क्या इस विषवृक्ष का परिचय देने के लिये पर्याप्त नहीं है? कौनसा ऐसा पाप है जो इसकी आड़ में नहीं किया जाता? हमारे मन्दिर, हमारे तीर्थ, हमारे पण्डे और पुजारी सब ही इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। झूठ, छल, कपट, दम्भ एवं दुराचार, कौनसा दुष्ट कृत्य है जो इसका सहचर नहीं है। निरीह निर्बल पशुओं से लेकर मनुष्य जैसा श्रेष्ठ प्राणी तक कौन ऐसा है जो इस राक्षसी की बलिवेदी पर बलिदान नहीं किया गया। आज भी इस देश में हज़ारों मूक पशुओं की मूर्तिपूजा के नाम पर नित्य होने वाला बलिदान 'पूजा' जैसे पवित्र नाम को कलङ्कित कर रहा है। देवदासी प्रथा जैसा व्यभिचारपूर्ण कुकृत्य इसी मूर्तिपूजा रूपी वृक्ष का ही तो फल है। हिन्दू जाति की मानसिक, सामाजिक तथा शताब्दियों की हमारी राजनैतिक दासता सब ही इस मूर्तिपूजा का कुपरिणाम है।

जो लोग मूर्तिपूजा में विश्वास रखते हुए भी महापुरुष बन गये हैं यदि हम उन पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि उन के दैनिक जीवन में मूर्तिपूजा का कोई विशेष स्थान नहीं था। वे स्वयं मूर्तिपूजक नहीं रहे, केवल उनकी उसमें आस्थामात्र

रही है। चाहे वह परम्परागत होने के कारण से हो, चाहे इसलिये हो कि उसे उन्होंने विशेष हानिप्रद नहीं समझा। उनका समस्त जीवन यम, नियमों की मणिमाला में ओतप्रोत पाया जाता है और जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं योग के केवल प्रारम्भिक यम, नियम दो अङ्गों का साधन ही मनुष्य को महात्मा बनाने के लिये पर्याप्त है। अष्टाङ्ग योग की सिद्धि तो मनुष्य को उस अवस्था तक पहुँचा देती है जिसकी कि आज हम इस युग में कल्पना भी कठिनाई से कर सकते हैं। फिर यह महानुभाव आप्त पुरुष नहीं थे जिनका प्रत्येक कार्य हमारे लिये अनुकरणीय हो। इसके अतिरिक्त हमने इस पुस्तक में वेद-शास्त्रों के अनेक प्रमाण तथा रामायण काल से लेकर महाभारत काल तक की अनेक ऐतिहासिक साक्षी उपस्थित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उस काल में जो आर्य-जाति के महान् वैभव और उत्कर्ष का युग था, केवल एक निराकार ब्रह्मोपासना का सर्वत्र प्रचार था। इन आप्त ग्रन्थों एवं आप्त पुरुषों की साक्षी के समक्ष आधुनिक भ्रान्त महापुरुषों की साक्षी का क्या महत्व हो सकता है इस पर अधिक लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। राजा राममोहन राय, इस युग के महान् सुधारक ऋषि दयानन्द तथा अन्यान्य हिन्दू सन्तों द्वारा मूर्तिपूजा की युक्तियुक्त समीक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

—:o:—

उपासना-विधि

मूर्तिपूजा के अभाव में हमारी उपासना-विधि क्या हो ? यह एक प्रश्न है, प्रायः जिसे या तो जटिल समझा जाता है या जटिल बनाकर सर्व साधारण के सन्मुख उपस्थित किया जाता है। जैसा कि हमने इस पुस्तक में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है मूर्तिपूजा का प्रारम्भ महाभारत काल के पश्चात् हुआ है। और उसका हमारे प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था उस समय जनसाधारण की एक सर्वाङ्गपूर्ण उपासना-विधि थी, इस विषय पर हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। तब क्यों इस प्रश्न को इतना जटिल समझा जाता है। बात स्पष्ट है, मूर्तिपूजा के समर्थक इसकी आड़ में उसको जीवित रखना चाहते हैं। क्यों रखना चाहते हैं, इस विषय पर आवश्यकता से अधिक इस पुस्तक में विचार किया जा चुका है।

यद्यपि योगविधि का कोई भी ऐसा अङ्ग नहीं है जो जन-साधारण की पहुँच से परे हो; तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य उच्चकोटि का वैज्ञानिक साहित्यकार एवं कलाकार नहीं बन सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योगी बनने की क्षमता नहीं रखता। यह सत्य है कि जो जितना परिश्रम करता है उसे उतना फल अवश्य

प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्येक जीव अपने पूर्व संस्कार तथा उस वातावरण से जिसमें कि उसका पालन-पोषण अथवा विकास हुआ है प्रभावित हुए विना नहीं रहता। 'जीवन 'जन्मान्तर के संस्कारों का पुञ्ज है, इसे विना समझे हम इस सांसारिक विषमता को भली भांति नहीं समझ सकते। अतः एक ऐसी उपासना विधि की जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी भौतिक उन्नति के साथ आत्मविकास भी कर सके, आवश्यकता सदा और सर्वत्र अनुभव हुआ करती है। प्राचीन आर्यजाति इस विधि से अनभिज्ञ नहीं थी। हमारे धर्मशास्त्र प्रातः सायं नित्य नैमित्तिक रूप से प्रत्येक नर-नारी एवं बाल-वृद्ध को संध्या करने का बलपूर्वक उपदेश देते हैं। हमारा प्राचीन इतिहास उसका साक्षी है, जिसको हमने यथास्थान सिद्ध किया है। आज भी मूर्तिपूजा के प्रचार से यह विधि लोप नहीं हुई, यह दूसरी बात है कि समय के हेर-फेर से उसका कुछ रूप बदल गया हो।

यह सन्ध्योपासना-विधि योग के आधार पर निर्माण की गई है। प्रत्येक अपनी अभिरुचि के अनुसार यदि वह चाहे तो इसकी सहायता से उत्तरोत्तर अपने आत्म-विकाश द्वारा समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है। आचमन, मार्जन, प्राणायाम, उपस्थान तथा गायत्री मंत्र का जाप आदि समस्त विधि सरल एवं सुबोध हैं और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति थोड़े से प्रयत्न और अभ्यास से उसे हृदयङ्गम कर सकता है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है, अज्ञ जन समुदाय के लिये, जिसकी गणना हमारे देश में दुर्भाग्य से आज ८० प्रतिशत के लगभग है, किस विधि का प्रचार किया जाय। योग दर्शन जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के लिये चाहे वह विद्वान् हो अथवा

अविद्वान्, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उपासना-विधि का समान रूप से वर्णन करता है। अशिक्षित समुदाय के लिये "ओंकार जाप" की सरल विधि योगदर्शन में विद्यमान है। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग दर्शन समाधिपाद सूक्त २८) ओ३म् का जाप और उसका अर्थचिन्तन एक अत्यन्त सरल विधि है, जिससे बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सब ही समान लाभ उठा सकते हैं। इसी भांति गायत्री मंत्र के अर्थसहित जाप का अभ्यास भी थोड़े से परिश्रम से किया जा सकता है। गायत्री मंत्र जाप का हमारे धर्मशास्त्र में ओंकार जाप की भांति बड़ा माहात्म्य है। मंत्र जाप भी चित्त की एकाग्रता का एक साधन है। अतः साधारण शिक्षित लोग उससे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

प्रणव अथवा मंत्रजाप में जिस बात की विशेष आवश्यकता है और जिसे दुर्भाग्यवश पौराणिक काल में सर्वथा भुला दिया गया था, वह 'अर्थ विचार' है। एक हिन्दू समझता है कि विना अर्थ-विचारे मंत्र जाप मात्र से ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जब तक हम मन्त्रार्थ नहीं जानते तब तक हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते और न उससे हमारे विचार ही प्रभावित हो सकते हैं। जप का उद्देश्य विचारों की शुद्धता और मन की एकाग्रता है। यदि इससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है तो उसका महत्त्व तोते की रट से अधिक नहीं। अतः जप के साथ अर्थ विचार अनिवार्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को पञ्च यज्ञों के नित्य अनुष्ठान का आर्य-धर्म पद-पद पर उपदेश देता है। इन्हीं आह्निक कर्मों में एक ब्रह्म यज्ञ है। संध्या, जप, स्वाध्याय और प्रवचन ये सब ही ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सायं, प्रातः इश्वरोपासना मंत्र

जाप, वेदादि सद्ग्रन्थों का नियमपूर्वक अध्ययन तथा जो कुछ स्वयं अध्ययन किया है उसे दूसरों पर प्रकट करना, ये प्रत्येक के लिये नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। परन्तु हिन्दू समाज में जहाँ ईश्वरोपासना का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया है, वहाँ स्वाध्याय का या तो सर्वथा अभाव हो गया या रामायण, भागवतादि इतिहास पुराणों ने ले लिया, और वेदशास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। सर्वसाधारण का धर्मविषयक ज्ञान राम और कृष्ण की कथाओं से अधिक कुछ नहीं है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि पौराणिक काल में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित कर दिया गया। वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्वसाधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है। उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक-एवं-ऐतिहासिक गाथाओं तक ही सीमित है। अतः आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओं में अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुनः अभिरुचि उत्पन्न करें।

पञ्च यज्ञों में दूसरा स्थान देव-यज्ञ का है। जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है। इसका भी आर्य जीवन में ब्रह्मयज्ञ की भांति मुख्य स्थान है। संध्या की भांति इसका भी प्रातः सायं नित्यप्रति करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं। महाभारत-युद्ध काल तक इन दोनों यज्ञों का हमारी दिनचर्या में विशेष महत्व रहा था। हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी

पतन हुआ। रामायण काल में राम को इन्हीं यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसों से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर,-माँस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञों में डाला जाने लगा। गौ जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञों में बलि देना धर्म समझा जाने लगा। फलतः बौद्ध काल में यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य को इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया। अग्निहोत्र का एक नाम देव-पूजा भी है। देव शब्द की भांति देव-पूजा को भी -मूर्ति पूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज आप किसी हिन्दू से देवपूजा का शब्दार्थ पूछें वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियों की पूजा कर देगा। इसी प्रकार प्राचीन काल में देव मन्दिर, देवालय, मण्डप शब्दों का प्रयोग यज्ञशालाओं के लिये प्रयुक्त हुआ करता था। किन्तु आज इन शब्दों को देखकर हम चौंक पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि उस समय भी मूर्तिपूजा का प्रचार था। अब मन्दिर शब्द ही एक रूढ़ि बन गया है जिसका अर्थ मूर्तिपूजा का स्थान समझा जाता है। शिवालय की बनावट यज्ञशाला जैसी है। बम्बई प्रान्त में अब भी उसके लिये मण्डप शब्द प्रयुक्त होता है। शिवालय सर्वत्र चौकोण अथवा अष्ट कोण बनाया जाता है। उसका शिखर, यज्ञाग्नि के शिखर के समतुल्य ही होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि किसी समय वाममार्ग काल में इन्हीं यज्ञ मण्डपों का रूपान्तर वर्तमान काल के शिवालयों में कर दिया गया हो। कुछ विद्वानों का ऐसा ही मत है। शिवालय के मध्य में शिवलिंग प्रायः एक गहरी गोलाकार वेदी में स्थापित होता है, जिसके सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि वह यज्ञ वेदी ही है। अतः यह अनुमान कि प्राचीन वैदिक-देव

यज्ञके भग्नावशेष पर ही मूर्तिपूजा का भवन निर्माण हुआ है, केवल एक कल्पना ही नहीं है अपितु उसमें बहुत कुछ तथ्य भी है। सन्ध्योपासना जहाँ व्यष्टि रूप से किये जाने वाला एक धार्मिक कृत्य है वहाँ अग्निहोत्र समष्टि रूप से होने वाली नित्य नैमित्तिक क्रिया है। प्रत्येक गृहस्थ प्रातः सायं सामूहिक रूप से सपरिवार अग्निहोत्र करें, यह आर्य मर्यादा है। इसी प्रकार पक्ष, मास, चतुर्मास तथा षट् मास की समाप्ति पर सामूहिक अथवा सामाजिक अग्नि होत्र समारोहों का महाभारत काल तक इस देश में प्रचार था। दीपावली, शारदीय नवशस्योष्टि तथा होली (वासन्तीय नव शस्येष्टि यज्ञ) ऐसे यज्ञों के रूपांतर हैं। इसी प्रकार आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा, एवं फाल्गुण पूर्णिमा चातुर्मास यज्ञों के अवशिष्ट मात्र हैं। अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञों का राष्ट्रीय-स्वरूप है। उस समय एक देश में अग्नि होत्र का इतना प्रचार और महत्त्व था कि प्रत्येक शुभ अवसर पर अग्नि होत्र से ही कार्य प्रारम्भ होता था। हमारे संस्कारों की यज्ञ प्रधानता आज भी हमें उस युग की याद दिलाती है। अग्निहोत्र द्वारा पञ्चदेव—आकाश, अग्नि, वायु जल तथा पृथ्वी की शुद्धि और संस्कार होता है। यही इनकी पूजा है। और इसीलिये इसका नाम देव-यज्ञ अथवा देवपूजा है। जल-वायु की शुद्धि द्वारा अनायास ही अनेक संक्रामक रोगों से हमारी रक्षा होती है। यह निर्विवाद है कि अग्निहोत्र से हमारे मन और स्वास्थ्य पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति थोड़े से व्यय और परिश्रम से स्वयं कर सकता है।

आर्य जाति अपने धर्म और संस्कृति से आज बहुत दूर हट चुकी है, परन्तु अब भी उनके अंकुर बीजरूप से उसमें विद्यमान

हैं। आवश्यकता किञ्चित् नेतृत्व और पथप्रदर्शन की है। हज़ारों वर्षों से अनेक सम्प्रदायों द्वारा वह पथभ्रष्ट होती रही है। धर्म के नाम पर अनेक कुसंस्कार और दुर्व्यसन उसमें घर कर गये हैं। तथापि राख की ढेरी के नीचे दबी हुई चिंगारी की भांति आज भी वैदिक भावनाएं सर्वथा विलुप्त नहीं हुई। यदि हिन्दू समाज के कर्णधार स्वार्थ से ऊपर उठ कर उस दैवी अग्नि को प्रज्वलित करना चाहें तो वह अब भी संसार को पुनः देदीप्यमान करने की क्षमता रखती है। इस जाति ने अनेक दुर्दिन देखे हैं किन्तु फिर भी उसका अपना प्राचीन गौरव सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ। वह आज कङ्काल होने पर भी अनेक बहुमूल्य रत्नों की स्वामिनी है, और अब भी संसार को कुछ दे सकती है। क्या इसके लिये हम कुछ आत्मोत्सर्ग करेंगे ?

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
७	१४	बोद्धों	बौद्धों	१३६	१२	था	या
१३	२	कल्पन	कल्पना	१३७	३	पाठय	पाएय
२२	१७	पर	परक	१३७	६	बोझ और सोना	बोझ सोना
३०	१९	को	का				
३१	५	रखता है	रखते हैं	१३८	२५	वेशापुर	नेशापुर
३२	१२	अद्योपांत	आद्योपांत	१४२	२	तीन वर्ष	तीन सौ वर्ष
५६	१९	स्थलों	इन स्थलों	१५८	४	में	ने
७६	१०	कसे	कैसे	१५८	७	साम्राज्यों	सम्राटों
८०	२०	कमी	कभी	१५९	१६	pures	purer
८४	१९	प्रसाद	प्रासाद	१७२	२३	कमयोग	कर्मयोग
९१	५	अपनी	अपने	१७२	२६	यारुप	योरुप
९१	१०	क्लह	कलह	१७२	२७	का	को
९२	११	तमगुण	तमोगुण	१७३	२०	दहधारी	देहधारी
१२०	१४	'बोज़ासफ़' को	बोज़ासफ़	१७८	१८	आक्रमण	आक्रमणों
१२२	९	वाहिर	वाहर	१७९	७	भागानु-सार	भोगा-नुसार
१२४	५	इसका	उसका	१७९	२४	अनेक ग्रंथों में की	में अनेक ग्रंथों की
१२५	७	पराजय	अप्रसन्नता				
१२७	१०	बड़ा	बड़ी	१८०	१२	स्वभाव	प्रभाव
१३४	१३	विशेष थे	विशेषता थी	१८५	२६	घड़ा	गढ़ी
१३४	१६	हुआ भी	ऐसा ही हुआ भी	१९२	२६	किया है	किया जा रहा है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१९३	२	समथन	समर्थन
१९३	१८	युक्ति	भक्ति
१९४	५	रही	रहा
१९५	४	voguely	vaguely
१९६	७	अन्तरित्त	आन्तरिक
२०२	१६	किसी चित्र	कि किसी चित्र
२०३	२०	घड़ी	गढ़ी
२०४	३	सव व्या-पक	सर्वव्यापक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२०६	१	प्रभाव	अभाव
२१४	२६	मूर्ति	पूर्ति
२२२	६	झौंक	जौंक
२२३	८	सामाजिक नहीं	सामाजिक था राजनै-तिक नहीं
२२३	१४	सुधर	सुधरे
२२६	३	आतप्रोत	ओतप्रोत
२२८	३	जन्मान्तर	जन्म-जन्मान्तर

पुस्तक मिलने का अन्य पता :—

गोविन्दराम हासानन्द,

आर्य साहित्य-भवन, नई सड़क, देहली ।